

Chapter पन्द्रह

ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन

मैत्रेय उवाच

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; प्राजापत्यम्—महान् प्रजापति का; तु—लेकिन; तत् तेजः—उसका बलशाली वीर्य; पर-तेजः—अन्यों का पराक्रम; हनम्—कष्ट देने वाला; दितिः—दिति (कश्यप पत्नी) ने; दधार—धारण किया; वर्षाणि—वर्षों तक; शतम्—एक सौ; शङ्कमाना—शंकालु; सुर-अर्दनात्—देवताओं को उद्विग्न करने वाले ।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, महर्षि कश्यप की पत्नी दिति यह समझ गई कि उसके गर्भ में स्थित पुत्र देवताओं के विक्षोभ के कारण बनेंगे। अतः वह कश्यप मुनि के तेजवान वीर्य को एक सौ वर्षों तक निरन्तर धारण किये रही, क्योंकि यह अन्यों को कष्ट देने वाला था।

तात्पर्य : महर्षि श्री मैत्रेय विदुर से ब्रह्मा समेत सारे देवताओं के कार्यों की विवेचना कर रहे थे। जब दिति ने अपने पति के मुख से सुना कि वह अपनी कोख में जो पुत्र धारण किए हुए हैं, वे देवताओं के लिए विक्षोभ के कारण बनेंगे तो वह बहुत प्रसन्न नहीं थी। मनुष्य दो तरह के होते हैं—भक्त तथा अभक्त। अभक्त-गण असुर कहलाते हैं और भक्तगण देवता कहलाते हैं। कोई भी विवेकवान पुरुष या स्त्री अभक्तों द्वारा भक्तों को कष्ट दिए जाना सहन नहीं कर सकता। इसलिए दिति पुत्रों को जन्म देने में हिचक रही थी। इसीलिए उसने सौ वर्षों तक प्रतीक्षा की जिससे कम से कम उस अवधि के लिए तो देवताओं को उत्पात से बचा सके

लोके तेनाहतालोके लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

लोके—इस ब्रह्माण्ड में; तेन—दिति के गर्भधारण के बल पर; आहत—विहीन होकर; आलोके—प्रकाश; लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के देवता; हत-ओजसः—जिसका तेज मन्द हो चुका था; न्यवेदयन्—पूछा; विश्व-सृजे—ब्रह्मा से; ध्वान्त-व्यतिकरम्—अंधकार का विस्तार; दिशाम्—सारी दिशाओं में।

दिति के गर्भधारण करने से सारे लोकों में सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश मंद हो गया और विभिन्न लोकों के देवताओं ने उस बल से विचलित होकर ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा से पूछा, “सारी दिशाओं में अंधकार का यह विस्तार कैसा?”

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के इस श्लोक से ऐसा लगता है कि सूर्य ब्रह्माण्ड के सारे लोकों के लिए प्रकाश के स्रोत का कार्य करता है। इस श्लोक से उस आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त का समर्थन नहीं होता जिसके अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्य होते हैं। ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है, जो सारे लोकों के प्रकाश की पूर्ति करता है। भगवद्गीता में चन्द्रमा को भी एक नक्षत्र कहा गया है। नक्षत्र अनेक हैं और जब हम उन्हें रात के समय चमकते देखते हैं, तो हम यह समझ सकते हैं कि वे प्रकाश का परावर्तन करने वाले हैं। जिस तरह चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य-प्रकाश का परावर्तन है उसी तरह अन्य लोक भी सूर्यप्रकाश को परावर्तित करते हैं और ऐसे अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। दिति के गर्भ में स्थित पुत्रों के आसुरी प्रभाव से ब्रह्माण्ड भर में अंधकार फैल गया।

देवा ऊचुः

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम् ।

न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; तमः—अंधकार; एतत्—यह; विभो—हे महान्; वेत्थ—तुम जानो; संविग्नाः—अत्यन्त चिन्तित; यत्—क्योंकि; वयम्—हम; भृशम्—अत्यधिक; न—नहीं; हि—क्योंकि; अव्यक्तम्—अप्रकट; भगवतः—आपका (भगवान् का); कालेन—काल द्वारा; अस्पृष्ट—अछूता; वर्त्मनः—जिसका मार्ग।

भाग्यवान् देवताओं ने कहा : हे महान्, जरा इस अंधकार को तो देखो, जिसे आप अच्छी तरह जानते हैं और जिससे हमें चिन्ता हो रही है। चूँकि काल का प्रभाव आपको छू नहीं सकता, अतएव आपके समक्ष कुछ भी अप्रकट नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा को विभु तथा भगवान् कहा गया है। वे भौतिक जगत में भगवान् के रजोगुणी अवतार हैं। प्रतिनिधि के रूप में वे भगवान् से अभिन्न हैं, अतएव उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। काल का प्रभाव भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में प्रकट होता है। यह ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं जैसे महान् पुरुषों का स्पर्श नहीं कर पाता। कभी कभी देवता तथा महर्षिगण जिन्होंने ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली है त्रिकालज्ञ कहलाते हैं।

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे ।

परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

देव-देव—हे देवताओं के स्वामी; जगत्-धातः—ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले; लोकनाथ-शिखामणे—हे अन्य लोकों के समस्त देवताओं के शिरो-मणि; परेषाम्—आध्यात्मिक जगत का; अपरेषाम्—भौतिक जगत का; त्वम्—तुम; भूतानाम्—सारे जीवों के; असि—हो; भाव-वित्—मनोभावों को जानने वाले।

हे देवताओं के देव, हे ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले, हे अन्यलोकों के समस्त देवताओं के शिरोमणि, आप आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगत्‌ओं में सारे जीवों के मनोभावों को जानते हैं।

तात्पर्य : चूँकि ब्रह्मा भगवान् के ही तुल्यप्राय हैं इसीलिए उन्हें यहाँ पर देवदेव कहकर सम्बोधित किया गया है और चूँकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण स्रष्टा हैं इसलिए उन्हें ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला कहा गया है। वे सारे देवताओं के मुखिया हैं इसलिए उन्हें देवताओं का शिरोमणि कहा गया है। आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगत्‌ओं में जो कुछ घटित हो रहा है उसे समझ पाना उनके लिए कठिन नहीं। वे हर एक के हृदय की बात तथा हर एक के मनोभाव को जानते हैं। इसीलिए उनसे इस घटना की व्याख्या करने के लिए अनुरोध किया गया कि आखिर दिति का गर्भ सारे ब्रह्माण्ड के लिए ऐसी चिन्ता का कारण क्यों बना है ?

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे ।

गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नमः—सादर नमस्कार; विज्ञान-वीर्याय—हे बल तथा वैज्ञानिक ज्ञान के आदि स्रोत; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; इदम्—ब्रह्मा का यह शरीर; उपेयुषे—प्राप्त करके; गृहीत—स्वीकार करते हुए; गुण-भेदाय—विभेदित रजोगुण; नमः ते—आपको नमस्कार करते हुए; अव्यक्त—अप्रकट; योनये—स्रोत।

हे बल तथा विज्ञानमय ज्ञान के आदि स्रोत, आपको नमस्कार है। आपने भगवान् से पृथक्कृत रजोगुण स्वीकार किया है। आप बहिरंगा शक्ति की सहायता से अप्रकट स्रोत से उत्पन्न हैं। आपको नमस्कार।

तात्पर्य : वेद ज्ञान के सभी विभागों के लिए आदि विज्ञानमय ज्ञान हैं और वेदों का यही ज्ञान भगवान् द्वारा सर्वप्रथम ब्रह्मा के हृदय में स्थापित किया गया। अतएव ब्रह्मा समस्त विज्ञान-मय ज्ञान के आदि स्रोत हैं। वे उन गर्भोदकशायी विष्णु के दिव्य शरीर से प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें इस

भौतिक ब्रह्माण्ड का कोई प्राणी कभी नहीं देख पाता, अतएव वे सदैव अव्यक्त रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा को अव्यक्त से उत्पन्न कहा गया है। वे उस भौतिक प्रकृति में रजोगुण के अवतार हैं, जो भगवान् की पृथक्कृत बहिरंगा शक्ति है।

ये त्वानन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम् ।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; त्वा—तुम पर; अनन्येन—विचलित हुए बिना; भावेन—भक्तिपूर्वक; भावयन्ति—ध्यान करते हैं; आत्म-भावनम्—जो सारे जीवों को उत्पन्न करता है; आत्मनि—अपने भीतर; प्रोत—जुड़ा हुआ; भुवनम्—सारे लोक; परम्—परम; सत्—प्रभाव; असत्—कारण; आत्मकम्—जनक।

हे प्रभु, ये सारे लोक आपके भीतर विद्यमान हैं और सारे जीव आपसे उत्पन्न हुए हैं। अतएव आप इस ब्रह्माण्ड के कारण हैं और जो भी अनन्य भाव से आपका ध्यान करता है, वह भक्तियोग प्राप्त करता है।

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनका; सु-पक्व-योगानाम्—जो प्रौढ़ योगी हैं; जित—संयमित; श्वास—साँस; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मनाम्—मन; लब्ध—प्राप्त किया हुआ; युष्मत्—आपकी; प्रसादानाम्—कृपा; न—नहीं; कुतश्चित्—कहीं भी; पराभवः—हार।

जो लोग श्वास प्रक्रिया को साध कर मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं और इस प्रकार जो अनुभवी प्रौढ़ योगी हो जाते हैं उनकी इस जगत में पराजय नहीं होती। ऐसा इसलिए है, क्योंकि योग में ऐसी सिद्धि के कारण, उन्होंने आपकी कृपा प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : यहाँ पर योग क्रियाओं के प्रयोजन को समझाया गया है। ऐसा कहा जाता है कि अनुभवी योगी श्वास प्रक्रिया को वश में करके इन्द्रियों तथा मन पर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। अतएव श्वास प्रक्रिया को वश में करना योग का चरम उद्देश्य नहीं है। योग-क्रियाओं का असली प्रयोजन मन तथा इन्द्रियों को वश में करना है। जिस किसी ने ऐसा नियंत्रण प्राप्त कर लिया है उसे अनुभवी प्रौढ़ योगी समझा जाना चाहिए। यहाँ यह इंगित किया गया है कि मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले योगी को भगवान् का असली वर प्राप्त रहता है और उसे कोई भय नहीं रहता।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य जब तक मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भगवान् की कृपा तथा वर प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा तभी सम्भव है जब वह पूरी तरह कृष्णभावनामृत में संलग्न रहे। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ तथा मन सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उसके भौतिक कार्यों में लगे रहने की सम्भावना नहीं रहती। भगवान् के भक्त ब्रह्माण्ड में कहीं भी पराजित नहीं होते। कहा गया है *नारायण-पराः सर्वे जो नारायणपर है, अर्थात् भगवान् का भक्त है, वह कहीं भी भयभीत नहीं होता चाहे उसे नरक भेजा जाय या कि स्वर्ग में भेज दिया जाय (भागवत ६.१७.२८)*

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः ।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नमः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; वाचा—वैदिक निर्देशों द्वारा; प्रजाः—जीव; सर्वाः—सारे; गावः—बैल; तन्त्या—रस्सी से; इव—सदृश; यन्त्रिताः—निर्देशित हैं; हरन्ति—भेंट करते हैं, लेते हैं; बलिम्—भेंट, पूजा-सामग्री; आयत्ताः—नियंत्रण के अन्तर्गत; तस्मै—उसको; मुख्याय—मुख्य पुरुष को; ते—तुमको; नमः—सादर नमस्कार।

ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सारे जीव वैदिक आदेशों से उसी प्रकार संचालित होते हैं जिस तरह एक बैल अपनी नाक से बँधी रस्सी (नथुनी) से संचालित होता है। वैदिक ग्रंथों में निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। उस प्रधान पुरुष को हम सादर नमस्कार करते हैं, जिसने हमें वेद दिये हैं।

तात्पर्य : वैदिक ग्रंथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नियम हैं। कोई भी व्यक्ति वैदिक ग्रंथों में दिये गये आदेशों का उल्लंघन नहीं कर सकता जिस तरह कि कोई राजसत्ता के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। किसी भी सजीव प्राणी को जो जीवन में असली लाभ का इच्छुक है वैदिक वाङ्मय के आदेशानुसार कर्म करना चाहिए। इस जगत में भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए आये बद्धजीव वैदिक वाङ्मय के आदेशों द्वारा संचालित होते हैं। इन्द्रियतृप्ति तो नमक की तरह से है। भोज्य पदार्थ को सुस्वाद बनाने के लिए कुछ नमक मिलाया जाता है, किन्तु कोई न तो बहुत अधिक नमक ले सकता है न बहुत कम। इस भौतिक जगत में आये हुए बद्धात्माओं को वैदिक वाङ्मय के आदेशानुसार अपनी इन्द्रियों को काम में लाना चाहिए, अन्यथा वे अधिक कष्टमय जीवन में पड़ जाएँगे। कोई भी मनुष्य या देवता वैदिक वाङ्मय जैसे नियम नहीं बना सकता, क्योंकि सारे वैदिक विधान परम पुरुष द्वारा बनाए

गए हैं ।

स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम् ।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; विधत्स्व—सम्पन्न करो; शम्—सौभाग्य; भूमन्—हे परमेश्वर; तमसा—अंधकार द्वारा; लुप्त—निलम्बित; कर्मणाम्—नियमित कार्यो का; अदभ्र—उदार, बिना भेदभाव के; दयया—दया के द्वारा; दृष्ट्या—आपकी दृष्टि द्वारा; आपन्नान्—हम शरणागत; अर्हसि—समर्थ हैं; ईक्षितुम्—देख पाने के लिए ।

देवताओं ने ब्रह्मा की स्तुति की: कृपया हम पर कृपादृष्टि रखें, क्योंकि हम कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं; अंधकार के कारण हमारा सारा काम रुक गया है ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में पूर्ण अंधकार के कारण विभिन्न लोकों के नियमित कार्य तथा धंधे रुक गये थे । कभी-कभी इस लोक के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों में दिन-रात का विभाजन नहीं होता । इसी तरह जब सूर्य प्रकाश इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों तक नहीं पहुँचता तो दिन तथा रात में कोई अन्तर नहीं रहता ।

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन्सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; देव—हे प्रभु; दितेः—दिति का; गर्भः—गर्भ; ओजः—वीर्य; काश्यपम्—कश्यप का; अर्पितम्—स्थापित किया गया; दिशः—दिशाएँ; तिमिरयन्—पूर्ण अंधकार उत्पन्न करते हुए; सर्वाः—सारे; वर्धते—बढ़ता है; अग्निः—आग; इव—सदृश; एधसि—ईधन ।

जिस तरह ईधन अग्नि को वर्धित करता है उसी तरह दिति के गर्भ में कश्यप के वीर्य से उत्पन्न भ्रूण ने सारे ब्रह्माण्ड में पूर्ण अंधकार उत्पन्न कर दिया है ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में फैले अंधकार को यहाँ पर उस भ्रूण द्वारा उत्पन्न बताया गया है, जो कश्यप के वीर्य से दिति के गर्भ में स्थापित किया गया था ।

मैत्रेय उवाच

स प्रहस्य महाबाहो भगवान्शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान्प्रीणन्नुचिरया गिरा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सः—वह; प्रहस्य—हँसते हुए; महा-बाहो—हे शक्तिशाली भुजाओं वाले (विदुर); भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; शब्द-गोचरः—दिव्य ध्वनि के द्वारा समझा जाने वाला; प्रत्याचष्ट—उत्तर दिया; आत्म-भूः—ब्रह्मा ने; देवान्—देवताओं को; प्रीणन्—तुष्ट करते हुए; रुचिरया—मधुर; गिरा—शब्दों से।

श्रीमैत्रेय ने कहा : इस तरह दिव्य ध्वनि से समझे जाने वाले ब्रह्मा ने देवताओं की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उन्हें तुष्ट करने का प्रयास किया।

तात्पर्य : ब्रह्मा दिति के दुष्कर्मों को समझ गये, अतः वे सारी स्थिति पर हँसे। उन्होंने वहाँ पर उपस्थित देवताओं को ऐसे शब्दों में उत्तर दिया जिन्हें वे समझ सकें।

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।

चेरुर्विहायसा लोकाल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; मानसाः—मन से उत्पन्न; मे—मेरे; सुताः—पुत्र; युष्मत्—तुम्हारी अपेक्षा; पूर्व-जाः—पहले उत्पन्न; सनक-आदयः—सनक इत्यादि ने; चेरुः—यात्रा की; विहायसा—अन्तरिक्ष में यान द्वारा या आकाश में उड़कर; लोकान्—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत्तों तक; लोकेषु—लोगों के बीच; विगत-स्पृहाः—किसी इच्छा से रहित।

ब्रह्माजी ने कहा : मेरे मन से उत्पन्न चार पुत्र सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार तुम्हारे पूर्वज हैं। कभी कभी वे बिना किसी विशेष इच्छा के भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाशों से होकर यात्रा करते हैं।

तात्पर्य : जब हम इच्छा की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय भौतिक इन्द्रियतृप्ति से होता है। सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार जैसे सन्तपुरुषों में कोई भौतिक इच्छा नहीं है, अपितु वे कभी कभी सारे ब्रह्माण्ड में स्वेच्छा से भक्ति का प्रचार करने के लिए यात्रा करते हैं।

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।

ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; भगवतः—भगवान् के; वैकुण्ठस्य—भगवान् विष्णु का; अमल-आत्मनः—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हुए; ययुः—प्रविष्ट हुए; वैकुण्ठ-निलयम्—वैकुण्ठ नामक धाम; सर्व-लोक—समस्त भौतिक लोकों के निवासियों के द्वारा; नमस्कृतम्—पूजित।

इस तरह सारे ब्रह्माण्डों का भ्रमण करने के बाद वे आध्यात्मिक आकाश में भी प्रविष्ट हुए, क्योंकि वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त थे। आध्यात्मिक आकाश में अनेक आध्यात्मिक लोक हैं, जो वैकुण्ठ कहलाते हैं, जो पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके शुद्धभक्तों के निवास-स्थान हैं

और समस्त भौतिक लोकों के निवासियों द्वारा पूजे जाते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत चिन्ताओं से पूर्ण है। सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक पाताल तक के सारे लोकों में सारे सजीव प्राणी चिन्ताओं और व्यग्रताओं से पूर्ण रहते हैं, क्योंकि भौतिक जगत में कोई भी प्राणी शाश्वत निवास नहीं कर सकता। किन्तु जीव वास्तव में शाश्वत हैं। उन्हें शाश्वतघर, शाश्वत धाम चाहिए, किन्तु भौतिक जगत में अस्थायी धाम स्वीकार करने के कारण वे स्वभावतः चिन्ता से ओतप्रोत रहते हैं। आध्यात्मिक आकाश में सारे लोक वैकुण्ठ कहलाते हैं, क्योंकि इन लोकों के निवासी सारी चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। उनके लिए जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग का प्रश्न ही नहीं उठता, अतएव वे चिन्ताग्रस्त नहीं रहते। दूसरी ओर, भौतिक जगत के निवासी सदैव जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था से भयभीत रहते हैं, अतएव वे चिन्ताओं से ओतप्रोत रहते हैं।

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।

येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन्हरिम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

वसन्ति—निवास करते हैं; यत्र—जहाँ; पुरुषाः—व्यक्ति; सर्वे—सारे; वैकुण्ठ-मूर्तयः—भगवान् विष्णु की ही तरह चार भुजाओं वाले; ये—वे वैकुण्ठ पुरुष; अनिमित्त—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित; निमित्तेन—उत्पन्न; धर्मेण—भक्ति द्वारा; आराधयन्—निरन्तर पूजा करते हुए; हरिम्—भगवान् की।

वैकुण्ठ लोकों में सारे निवासी पुरुषोत्तम भगवान् के समान आकृतिवाले होते हैं। वे सभी इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छाओं से रहित होकर भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में वैकुण्ठ के निवासियों तथा रहन-सहन के स्वरूप का वर्णन हुआ है। उसके निवासी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण जैसे होते हैं। वैकुण्ठ लोकों में कृष्ण का स्वांश नारायण के चतुर्भुजी रूप में प्रधान देव होता है और वैकुण्ठलोक के निवासी भी चतुर्भुजी होते हैं, जो भौतिक जगत की हमारी अवधारणा से सर्वथा विपरीत हैं। भौतिक जगत में कहीं भी हमें चार हाथों वाला मनुष्य नहीं मिलता। वैकुण्ठलोक में भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति नहीं होती है और यह सेवा सोदेश्य नहीं सम्पन्न की जाती। यद्यपि प्रत्येक सेवा का विशेष फल होता है, किन्तु भक्तगण कभी भी अपनी निजी इच्छाओं की पूर्ति की कामना नहीं करते। उनकी इच्छाएँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने से ही पूर्ण हो जाती हैं।

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान्शब्दगोचरः ।

सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन्वृषः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—वैकुण्ठ लोकों में; च—तथा; आद्यः—आदि; पुमान्—पुरुष; आस्ते—हैं; भगवान्—भगवान्; शब्द-गोचरः—वैदिक वाङ्मय के माध्यम से समझा गया; सत्त्वम्—सतोगुण; विष्टभ्य—स्वीकार करते; विरजम्—अकलुषित, निर्मल; स्वानाम्—अपने संगियों का; नः—हमको; मृडयन्—सुख को बढ़ाते हुए; वृषः—साक्षात् धर्म ।

वैकुण्ठलोकों में भगवान् रहते हैं, जो आदि पुरुष हैं और जिन्हें वैदिक वाङ्मय के माध्यम से समझा जा सकता है। वे कल्मषरहित सतोगुण से ओतप्रोत हैं, जिसमें रजो या तमो गुणों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे भक्तों की धार्मिक प्रगति में योगदान करते हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक आकाश में भगवान् के साम्राज्य (धाम) को वेदों के वर्णनों से सुनने के अलावा किसी अन्य विधि से नहीं समझा जा सकता। कोई जाकर इसे देख नहीं सकता। इस भौतिक जगत में भी जो व्यक्ति किसी दूरस्थ स्थान पर मोटरवाहन द्वारा जाने का खर्च उठाने में असमर्थ हैं, वे उस स्थान के बारे में प्रामाणिक पुस्तकों के द्वारा ही जान सकते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक आकाश में जो वैकुण्ठलोक हैं, वे इस भौतिक आकाश से परे हैं। आधुनिक विज्ञानी, जो अन्तरिक्ष में यात्रा करने का प्रयास कर रहे हैं, निकटतम लोक, चन्द्रमा तक भी जाने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं, ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोकों की बात तो दूर रही। इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि वे भौतिक आकाश से परे आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करके स्वयं इन आध्यात्मिक वैकुण्ठ लोकों को देख सकेंगे। अतः आध्यात्मिक आकाश में ईश्वर के साम्राज्य को वेदों तथा पुराणों के प्रामाणिक विवरणों के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

भौतिक जगत में तीन प्रकार के भौतिक गुण होते हैं—सतो, रजो तथा तमोगुण—किन्तु आध्यात्मिक जगत में रजो तथा तमोगुणों का नामोनिशान भी नहीं है। वहाँ केवल सतोगुण होता है, जो तमो या रजोगुणों के कल्मष से सर्वथा मुक्त होता है। भौतिक जगत में चाहे कोई व्यक्ति पूर्णतया सतोगुणी ही क्यों न हो वह भी तमो तथा रजोगुणों से कभी कभी प्रदूषित हो सकता है। किन्तु वैकुण्ठ जगत में, अर्थात् आध्यात्मिक आकाश में एकमात्र सतोगुण अपने शुद्धरूप में विद्यमान रहता है। भगवान् तथा उनके भक्तगण वैकुण्ठलोकों में निवास करते हैं और वे उसी दिव्यगुण अर्थात् शुद्ध सत्त्व

वाले होते हैं। वैकुण्ठलोक वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय हैं और वैष्णवों के भगवद्धाम की ओर निरन्तर अग्रसर होने में भगवान् स्वयं अपने भक्तों की सहायता करते हैं।

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—वैकुण्ठलोकों में; नैःश्रेयसम्—शुभ; नाम—नामक; वनम्—जंगल; काम-दुघैः—इच्छा पूरी करने वाले; द्रुमैः—वृक्षों समेत; सर्व—समस्त; ऋतु—ऋतुएँ; श्रीभिः—फूलों-फलों से; विभ्राजत्—शोभायमान; कैवल्यम्—आध्यात्मिक; इव—सदृश; मूर्तिमत्—साकार।

उन वैकुण्ठ लोकों में अनेक वन हैं, जो अत्यन्त शुभ हैं। उन वनों के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, जो सभी ऋतुओं में फूलों तथा फलों से लदे रहते हैं, क्योंकि वैकुण्ठलोकों में हर वस्तु आध्यात्मिक तथा साकार होती है।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोकों में भूमि, वृक्ष, फल-फूल तथा गौवें—हर वस्तु—पूर्णतया आध्यात्मिक तथा साकार होती है। वहाँ के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं। इस भौतिक लोक में वृक्ष भौतिक शक्ति के आदेशानुसार ही फूल-फल उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु वैकुण्ठलोकों में वृक्ष, भूमि, निवासी तथा पशु—सभी आध्यात्मिक होते हैं। वहाँ वृक्ष तथा पशु या पशु तथा मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ पर मूर्तिमत् शब्द सूचित करता है कि हर वस्तु का आध्यात्मिक स्वरूप होता है। इस श्लोक में निर्विशेषवादियों द्वारा कल्पित रूपविहीनता (निराकारता) का खण्डन किया गया है। वैकुण्ठलोकों में यद्यपि हर वस्तु आध्यात्मिक है, किन्तु उसका एक विशेष रूप रहता है। वृक्षों तथा मनुष्यों का रूप होता है और चूँकि वे भिन्न भिन्न रूप से निर्मित होते हुए भी सभी आध्यात्मिक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता है।

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

वैमानिकाः—अपने विमानों में उड़ते हुए; स-ललनाः—अपनी अपनी पत्नियों समेत; चरितानि—कार्यकलाप; शश्वत्—नित्य रूप से; गायन्ति—गाते हैं; यत्र—जिन वैकुण्ठलोकों में; शमल—समस्त अशुभ गुणों से; क्षपणानि—विहीन; भर्तुः—परमेश्वर

का; अन्तः-जले—जल के बीच में; अनुविकसत्—खिलते हुए; मधु—सुगन्धित, शहद से पूर्ण; माधवीनाम्—माधवी फूलों की; गन्धेन—सुगन्ध से; खण्डित—विचलित; धियः—मन; अपि—यद्यपि; अनिलम्—मन्द पवन; क्षिपन्तः—उपहास करते हुए।

वैकुण्ठलोकों के निवासी अपने विमानों में अपनी पत्नियों तथा प्रेयसियों के साथ उड़ानें भरते हैं और भगवान् के चरित्र तथा उन कार्यों का शाश्वत गुणगान करते हैं, जो समस्त अशुभ गुणों से सदैव विहीन होते हैं। भगवान् के यश का गान करते समय वे सुगन्धित तथा मधु से भरे हुए पुष्पित माधवी फूलों की उपस्थिति तक का उपहास करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वैकुण्ठलोक समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वहाँ विमान हैं जिनमें वहाँ के निवासी अपनी प्रेयसियों के साथ बैठकर आध्यात्मिक आकाश में विचरण करते हैं। वहाँ पुष्पित फूलों की सुगन्ध को ले जाने वाली मन्द वायु है और यह वायु इतनी उत्तम है कि यह अपने साथ फूलों का मधु भी वहन करती है। किन्तु वैकुण्ठ के निवासी भगवान् का गुणगान करने में इतनी रुचि रखते हैं कि भगवान् के यश का उच्चारण करते समय वे ऐसी उत्तम वायु द्वारा उत्पन्न व्यवधान को पसन्द नहीं करते। दूसरे शब्दों में, वे शुद्ध भक्त होते हैं। वे भगवान् के महिमागान को अपनी इन्द्रियतृप्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। वैकुण्ठलोकों में इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। पुष्पित फूल की सुगन्ध को सूँघना निश्चित रूप से अति उत्तम है, किन्तु यह एकमात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए होता है। वैकुण्ठवासी भगवान् की सेवा को सर्वोच्च वरीयता प्रदान करते हैं, अपनी इन्द्रियतृप्ति को नहीं। दिव्य प्रेम में भगवान् की सेवा करने से ऐसा दिव्य आनन्द मिलता है, जिसकी तुलना में इन्द्रियतृप्ति नगण्य मानी जाती है।

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-

दात्यूहहंसशुकतित्तिरिर्बर्हिणां यः ।

कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-

भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

पारावत—कबूतर; अन्यभृत—कोयल; सारस—सारस; चक्रवाक—चकई चकवा; दात्यूह—चातक; हंस—हंस; शुक—तोता; तित्तिरि—तीतर; बर्हिणाम्—मोर का; यः—जो; कोलाहलः—कोलाहल; विरमते—रुकता है; अचिर-मात्रम्—अस्थायी रूप से; उच्चैः—तेज स्वर से; भृङ्ग-अधिपे—भौर का राजा; हरि-कथाम्—भगवान् की महिमा; इव—सदृश; गायमाने—गाये जाते समय।

जब भौरों का राजा भगवान् की महिमा का गायन करते हुए उच्च स्वर से गुणगुनाता है, तो

कबूतर, कोयल, सारस, चक्रवाक, हंस, तोता, तीतर तथा मोर का शोर अस्थायी रूप से बन्द पड़ जाता है। ऐसे दिव्य पक्षी केवल भगवान् की महिमा सुनने के लिए अपना गाना बन्द कर देते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक वैकुण्ठ के परम स्वभाव का उद्घाटन करता है। वहाँ पर पक्षियों तथा मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। आध्यात्मिक आकाश की स्थिति ऐसी है कि हर वस्तु आध्यात्मिक तथा चित्र-विचित्र है। आध्यात्मिक चित्र-वैचित्र्य का अर्थ है कि हर वस्तु चर है। कुछ भी अचर नहीं है। यहाँ तक कि वृक्ष, भूमि, पौधे, फूल, पक्षी तथा पशु सारे के सारे कृष्णभावनामृत के स्तर पर होते हैं। वैकुण्ठलोक की विशेषता यह है कि वहाँ इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक जगत में गधा तक अपनी ध्वनि का आनन्द लेता है, किन्तु वैकुण्ठलोकों में मोर, चक्रवाक तथा कोयल जैसे उत्तम पक्षी भी भौरों से भगवान् की महिमा की ध्वनि को सुनना अधिक पसन्द करते हैं। वैकुण्ठलोक में श्रवण-कीर्तन इत्यादि से आरम्भ होने वाले भक्ति के सिद्धान्त अधिक प्रमुख हैं।

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-

पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।

गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या

यस्मिस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मन्दार—मन्दार; कुन्द—कुन्द; कुरब—कुरबक; उत्पल—उत्पल; चम्पक—चम्पक; अर्ण—अर्ण फूल; पुन्नाग—पुन्नाग; नाग—नागकेशर; बकुल—बकुल; अम्बुज—कुमुदिनी; पारिजाताः—पारिजात; गन्धे—सुगन्ध; अर्चिते—पूजित होकर; तुलसिका—तुलसी; आभरणेन—माला से; तस्याः—उसकी; यस्मिन्—जिस वैकुण्ठ में; तपः—तपस्या; सु-मनसः—अच्छे मन वाले, वैकुण्ठ मन वाले; बहु—अत्यधिक; मानयन्ति—गुणगान करते हैं।

यद्यपि मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल, चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, कुमुदिनी तथा पारिजात जैसे फूलने वाले पौधे दिव्य सुगन्ध से पूरित हैं फिर भी वे तुलसी द्वारा की गई तपस्या से सचेत हैं, क्योंकि भगवान् तुलसी को विशेष वरीयता प्रदान करते हैं और स्वयं तुलसी की पत्तियों की माला पहनते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर तुलसी की पत्तियों की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख है। भक्तिमय सेवा में तुलसी के पौधे तथा उनकी पत्तियाँ अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तों के लिए संस्तुति की गई है कि वे प्रति दिन तुलसी के पौधे को सींचें तथा भगवान् की पूजा के लिए उसकी पत्तियाँ एकत्र करें। एक बार एक नास्तिक

स्वामी ने कहा, “तुलसी के पौधे को सींचने से क्या लाभ? इससे अच्छा तो बैंगन का सींचना होगा; बैंगन सींचने से कुछ फल मिल सकेंगे, किन्तु तुलसी को सींचने से क्या लाभ?” ये मूर्ख प्राणी भक्ति से अपरिचित होने के कारण कभी कभी सामान्य लोगों की शिक्षा के साथ उत्पात मचाते हैं।

आध्यात्मिक जगत की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ भक्तों के मध्य ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता। यह बात फूलों तक में लागू होती है, जो तुलसी की महानता से परिचित होते हैं। चारों कुमारों ने जिस वैकुण्ठ जगत में प्रवेश किया वहाँ के पक्षी तथा फूल तक भगवान् की सेवा के प्रति सचेष्ट हैं।

यत्सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टे-

वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।

येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः

कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्समयाद्यैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यत्—वह वैकुण्ठधाम; सङ्कुलम्—से पूरित; हरि-पद—भगवान् हरि के दोनों चरण कमलों पर; आनति—नमस्कार द्वारा; मात्र—केवल; दृष्टेः—प्राप्त किये जाते हैं; वैदूर्य—वैदूर्य मणि; मारकत—मरकत; हेम—स्वर्ण; मयैः—से निर्मित; विमानैः—विमानों से; येषाम्—उन यात्रियों का; बृहत्—विशाल; कटि-तटाः—कूल्हे; स्मित—हँसते हुए; शोभि—सुन्दर; मुख्यः—मुख-मण्डल; कृष्ण—कृष्ण में; आत्मनाम्—जिनके मन लीन हैं; न—नहीं; रजः—यौन इच्छा; आदधुः—उत्तेजित करती है; उत्समयाद्यैः—घनिष्ठ मित्रवत् व्यवहार, हँसी मजाक द्वारा।

वैकुण्ठनिवासी वैदूर्य, मरकत तथा स्वर्ण के बने हुए अपने अपने विमानों में यात्रा करते हैं। यद्यपि वे विशाल नितम्बों तथा सुन्दर हँसीले मुखों वाली अपनी-अपनी प्रेयसियों के साथ सटे रहते हैं, किन्तु वे उनके हँसी मजाक तथा उनके सुन्दर मोहकता से कामोत्तेजित नहीं होते।

तात्पर्य : भौतिक जगत में भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा अपने कठिन श्रम से ऐश्वर्यों की प्राप्ति की जाती है। कोई तब तक भौतिक सम्पन्नता का भोग नहीं कर सकता जब तक उसे प्राप्त करने के लिए वह कठोर श्रम न करे। किन्तु भगवद्भक्तों को जो वैकुण्ठनिवासी हैं मणियों तथा मरकतों की दिव्य स्थिति को भोगने का अवसर प्राप्त होता है। मणिजटित स्वर्ण के आभूषण कठिन श्रम करने से नहीं, अपितु भगवान् के आशीष से प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्तगण चाहे वैकुण्ठ जगत के हों या इस जगत के, वे कभी दरिद्र नहीं हो सकते, जैसाकि कभी-कभी मान लिया जाता है। उनके पास भोग के लिए पर्याप्त ऐश्वर्य होते हैं, किन्तु उन्हें पाने के लिए उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता। यहाँ यह भी कहा गया है कि वैकुण्ठलोक के निवासियों की प्रेयसियाँ इस भौतिक जगत में ही नहीं प्रत्युत उच्च लोकों में

जाने वाली प्रेयसियों से भी कई गुना अधिक सुन्दर हैं। यहाँ इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि स्त्री के चौड़े नितम्ब अतीव आकर्षक हैं और वे मनुष्य की कामवासना को उत्तेजित करते हैं, किन्तु वैकुण्ठ का अद्भुत गुण यह है कि यद्यपि स्त्रियों के नितम्ब चौड़े हैं और मुखमण्डल सुन्दर हैं और वे मरकत तथा मणियों के आभूषणों से सुसज्जित रहती हैं, फिर भी पुरुषगण कृष्णभावनाभामृत में इस कदर निमग्न रहते हैं कि स्त्रियों के सुन्दर शरीर उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, स्त्रियों की संगति का आनन्द तो है, किन्तु उनके साथ यौन-सम्बन्ध नहीं होता। वैकुण्ठवासियों में आनन्द का श्रेष्ठतर मानदण्ड होता है, अतएव यौन आनन्द की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री—लक्ष्मीजी; रूपिणी—सुन्दर रूप धारण करने वाली; क्वणयती—शब्द करती; चरण-अरविन्दम्—चरणकमल; लीला-अम्बुजेन—कमल के फूल के साथ क्रीड़ा करती; हरि-सद्मनि—भगवान् के घर में; मुक्त-दोषा—समस्त दोषों से मुक्त हुई; संलक्ष्यते—दृष्टिगोचर होती है; स्फटिक—संगमरमर; कुड्ये—दीवालों में; उपेत—मिली-जुली; हेम्नि—स्वर्ण; सम्मार्जती इव—बुहारने वाली की तरह लगने वाली; यत्-अनुग्रहणे—उसकी कृपा पाने के लिए; अन्य—दूसरे; यत्नः—अत्यधिक सतर्क।

वैकुण्ठलोकों की महिलाएँ इतनी सुन्दर हैं कि जैसे देवी लक्ष्मी स्वयं है। ऐसी दिव्य सुन्दरियाँ जिनके हाथ कमलों के साथ क्रीड़ा करते हैं तथा पाँवों के नुपूर झंकार करते हैं कभी कभी उन संगमरमर की दीवालों को जो थोड़ी थोड़ी दूरी पर सुनहले किनारों से अलंकृत हैं, इसलिए बुहारती देखी जाती है कि उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सके।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में यह कहा गया है कि भगवान् गोविन्द के धाम में सदैव करोड़ों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा करती हैं। *लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*। ये करोड़ों-अरबों लक्ष्मियाँ जो वैकुण्ठलोकों में निवास करती हैं पुरुषोत्तम भगवान् की वास्तविक प्रेमिकाएँ नहीं हैं, अपितु भगवद्भक्तों की पत्नियाँ हैं और वे भगवान् की सेवा भी करती हैं। यहाँ यह कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों में संगमरमर के घर बने होते हैं। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों की फर्श स्पर्शमणि की बनी हुई है। इसलिए वैकुण्ठ में पत्थर को बुहारने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उस पर रंचमात्र भी धूल नहीं है; फिर भी भगवान् को तुष्ट करने हेतु स्त्रियाँ सदैव संगमरमर की दीवालों को झाड़ती रहती हैं।

क्यों? इसलिए कि वे ऐसा करके भगवान् की कृपा पाने के लिए उत्सुक रहती हैं।

यहाँ यह भी कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों में लक्ष्मियाँ दोषरहित होती हैं। सामान्यतया लक्ष्मीजी एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहतीं। उनका नाम चञ्चला है, जिसका अर्थ है, “जो स्थिर न हो।” अतएव हम देखते हैं कि जो व्यक्ति बहुत ही धनवान है, वह अतीव निर्धन बन सकता है। एक और उदाहरण रावण का है। रावण लक्ष्मी अर्थात् सीता जी को अपने साम्राज्य में ले गया, किन्तु लक्ष्मी की कृपा द्वारा सुखी होने के बजाय उसका परिवार तथा सारा साम्राज्य विनष्ट हो गया। इस तरह रावण के घर में लक्ष्मी चञ्चला अर्थात् अस्थिर हैं। रावण की श्रेणी के लोग केवल लक्ष्मी को उनके पति नारायण के बिना चाहते हैं, अतएव लक्ष्मीजी के कारण वे चंचल हो उठते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति लक्ष्मीजी में दोष ढूँढते हैं, किन्तु वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा में जुटी रहती हैं। भाग्य की देवी होते हुए भी लक्ष्मीजी भगवान् की कृपा के बिना सुखी नहीं रह सकतीं। लक्ष्मी जी को भी सुखी होने के लिए भगवान् की कृपा की आवश्यकता पड़ती है; फिर भी भौतिक जगत में सर्वोच्च प्राणी ब्रह्माजी भी सुख के निमित्त लक्ष्मी की कृपा के लिए उनका मुँह जोहते रहते हैं।

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
 प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरिशम् ।
 अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
 मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वापीषु—तालाबों में; विद्रुम—मूँगे के बने; तटासु—किनारे; अमल—पारदर्शी; अमृत—अमृत जैसे; अप्सु—जल; प्रेष्या-
 अन्विता—दासियों से घिरी; निज-वने—अपने बगीचे में; तुलसीभिः—तुलसी से; ईशम्—परमेश्वर को; अभ्यर्चती—पूजा
 करती हैं; सु-अलकम्—तिलक से विभूषित मुखवाली; उन्नसम्—उठी नाक; ईक्ष्य—देखकर; वक्त्रम्—मुख; उच्छेषितम्—
 चुम्बित होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; इति—इस प्रकार; अमत—सोचा; अङ्ग—हे देवताओ; यत्-श्रीः—जिसकी सुन्दरता।

लक्ष्मियाँ अपने उद्यानों में दिव्य जलाशयों के मूँगे से जड़े किनारों पर तुलसीदल अर्पित करके भगवान् की पूजा करती हैं। भगवान् की पूजा करते समय वे उभरे हुए नाकों से युक्त अपने अपने सुन्दर मुखों के प्रतिबिम्ब को जल में देख सकती हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् द्वारा मुख चुम्बित होने से वे और भी अधिक सुन्दर बन गई हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया जब किसी स्त्री का पति उसका चुम्बन करता है, तो उसका मुख अधिक सुन्दर हो जाता है। वैकुण्ठलोक में भी, यद्यपि लक्ष्मीजी उतनी ही सुन्दर हैं जितनी कि कल्पना की जा

सकती है, तो भी वे भगवान् द्वारा चुम्बित होने के लिए प्रतीक्षित रहती हैं जिससे उनका मुख और अधिक सुन्दर लगे। जब लक्ष्मीजी अपने उद्यान में तुलसी दलों से भगवान् की पूजा करती हैं, तो दिव्य निर्मल जल वाले तालाबों में उनका सुन्दर मुख दिखता है।

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-

च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।

यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-

स्तांस्तान्क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—वैकुण्ठ; न—कभी नहीं; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; अघ-भिदः—सभी प्रकार के पापों के विनाशक; रचना—सृष्टि का; अनुवादात्—कथन की अपेक्षा; शृण्वन्ति—सुनते हैं; ये—जो; अन्य—दूसरों; विषयाः—विषय; कु-कथाः—बुरे शब्द; मति-घ्नीः—बुद्धि को मारने वाली; याः—जो; तु—लेकिन; श्रुताः—सुना जाता है; हत-भगैः—अभागे; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; आत्त—छीना हुआ; साराः—जीवन मूल्य; तान् तान्—ऐसे व्यक्ति; क्षिपन्ति—फेंके जाते हैं; अशरणेषु—समस्त आश्रय से विहीन; तमःसु—संसार के सबसे अँधेरे भाग में; हन्त—हाय।

यह अतीव शोचनीय है कि अभागे लोग वैकुण्ठलोकों के विषय में चर्चा नहीं करते, अपितु ऐसे विषयों में लगे रहते हैं, जो सुनने के लायक नहीं होते तथा मनुष्य की बुद्धि को संभ्रमित करते हैं। जो लोग वैकुण्ठ के प्रसंगों का त्याग करते हैं, तथा भौतिक जगत की बातें चलाते हैं, वे अज्ञान के गहनतम अंधकार में फेंक दिये जाते हैं।

तात्पर्य : सबसे अभागे तो निर्विशेषवादी हैं, जो आध्यात्मिक जगत के चित्र-वैचित्र्य को नहीं समझ पाते। वे वैकुण्ठलोकों के सौन्दर्य की बात चलाते भयभीत होते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा वैचित्र्य अवश्य ही भौतिक होगा। ऐसे निर्विशेषवादी सोचते हैं कि आध्यात्मिक जगत पूर्णतया शून्य है अथवा दूसरे शब्दों में, वहाँ कोई चित्र-वैचित्र्य नहीं है। इस मनोवृत्ति को यहाँ पर *कुकथा मतिघ्नीः* अर्थात् “अयोग्य शब्दों द्वारा मोहग्रस्त बुद्धि” कहा गया है। यहाँ पर शून्यवाद तथा आध्यात्मिक जगत की निर्विशेष स्थिति की भर्त्सना की गई है, क्योंकि इनसे मनुष्य की बुद्धि मोहग्रस्त होती है। निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी किस तरह इस जगत के विषय में, जो चित्र-वैचित्र्य पूर्ण है, सोच सकते हैं और तब कह सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत में चित्र-वैचित्र्य नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का विकृत प्रतिबिम्ब है, अतएव जब तक आध्यात्मिक जगत में चित्र-वैचित्र्य नहीं होगा तब तक इस भौतिक जगत में क्षणिक चित्र-वैचित्र्य कैसे हो सकता है? इस

बात का कि कोई इस भौतिक जगत को पार कर सकता है अर्थ यह नहीं है कि यहाँ दिव्य चित्र-वैचित्र्य नहीं है।

भागवत में और विशेष रूप से इस श्लोक में इस बात पर बल दिया गया है कि जो लोग आध्यात्मिक आकाश तथा वैकुण्ठलोकों के वास्तविक दिव्य रूप के विषय में विचार-विमर्श करने तथा समझने का प्रयास करते हैं, वे भाग्यवान हैं। वैकुण्ठलोकों का चित्र-वैचित्र्य भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बन्ध में वर्णित है। किन्तु लोग आध्यात्मिक धाम तथा भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझने का प्रयास करने के बजाय राजनीति तथा आर्थिक विकास में अधिक रुचि दिखाते हैं। वे इस जगत की जहाँ उन्हें कुछ वर्षों तक ही रहना है स्थिति से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के लिए अनेकानेक सम्मेलनों, गोष्ठियों तथा चर्चाओं का आयोजन करते हैं, किन्तु वे वैकुण्ठलोक की आध्यात्मिक स्थिति को समझने में रुचि नहीं दिखाते। यदि वे तनिक भी भाग्यशाली हुए तो वे भगवद्दाम वापस जाने में रुचि दिखाते हैं, किन्तु जब तक वे आध्यात्मिक जगत को समझ नहीं लेते वे इस भौतिक अंधकार में लगातार सड़ते रहते हैं।

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्मं यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्पोहिता विततया बत मायया ते ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ये—वे व्यक्ति; अभ्यर्थिताम्—वांछित; अपि—निश्चय ही; च—तथा; नः—हमारे (ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं) द्वारा; नृ-गतिम्—मनुष्य योनि; प्रपन्नाः—प्राप्त किया है; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; तत्त्व-विषयम्—परब्रह्म का विषय; सह-धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों सहित; यत्र—जहाँ; न—नहीं; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; वितरन्ति—सम्पन्न करते हैं; अमुष्य—परमेश्वर का; सम्पोहिताः—मोहग्रस्त; विततया—सर्वव्यापी; बत—हाय; मायया—माया के प्रभाव से; ते—वे।

ब्रह्माजी ने कहा : हे प्रिय देवताओ, मनुष्य जीवन इतना महत्वपूर्ण है कि हमें भी ऐसे जीवन को पाने की इच्छा होती है, क्योंकि मनुष्य रूप में पूर्ण धार्मिक सत्य तथा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि इस मनुष्य जीवन में कोई व्यक्ति भगवान् तथा उनके धाम को नहीं समझ पाता तो यह समझना होगा कि वह बाह्य प्रकृति के प्रभाव से अत्यधिक ग्रस्त है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी मनुष्य की दशा की अत्यधिक निन्दा करते हैं, जो भगवान् तथा उनके दिव्य धाम वैकुण्ठ में रुचि नहीं लेता। ब्रह्माजी तक मनुष्य जीवन की कामना करते हैं। ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं

को मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उत्तम शरीर प्राप्त हैं फिर भी ब्रह्मा समेत सारे देवता मनुष्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि यह विशेष रूप से उसी जीव के लिए होता है, जो दिव्य ज्ञान तथा धार्मिक सिद्धि प्राप्त कर सके। एक जीवन में भगवद्धाम वापस जाना सम्भव नहीं है, किन्तु कम से कम मनुष्य जीवन में जीव को जीवन-लक्ष्य को समझकर कृष्णभावनामृत शुरू कर देना चाहिए। कहा जाता है कि मनुष्य जीवन महान् वरदान है, क्योंकि अविद्या के सागर को पार करने के लिए यह सर्वोपयुक्त नाव है। आध्यात्मिक गुरु को उस नाव का सबसे समर्थ कप्तान (नाविक) माना जाता है और शास्त्रों से प्राप्त जानकारी अविद्या के सागर पर तैरने के लिए अनुकूल वायु है। जो मनुष्य इस जीवन में इन सभी सुविधाओं का लाभ नहीं उठाता वह आत्महत्या करता है। अतएव जो व्यक्ति मनुष्य जीवन में आकर कृष्णभावनामृत शुरू नहीं करता वह माया के वशीभूत होकर अपना जीवन गँवा बैठता है। ब्रह्माजी ऐसे मनुष्य की स्थिति पर शोक व्यक्त करते हैं।

यच्च ब्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या

दूरे यमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।

भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-

वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यत्—वैकुण्ठ; च—तथा; ब्रजन्ति—जाते हैं; अनिमिषाम्—देवताओं का; ऋषभ—मुखिया; अनुवृत्त्या—चरणचिह्नों का अनुसरण करके; दूरे—दूर रहते हुए; यमाः—विधि-विधान; हि—निश्चय ही; उपरि—ऊपर; नः—हमको; स्पृहणीय—वांछनीय; शीलाः—सद्गुण; भर्तुः—भगवान् के; मिथः—एक दूसरे के लिए; सुयशसः—ख्याति; कथन—विचार विमर्श या वार्ताओं द्वारा; अनुराग—आकर्षण; वैक्लव्य—भाव, आनन्द; बाष्प-कलया—आँखों में अश्रु; पुलकी-कृत—काँपते हुए; अङ्गाः—शरीर।

आनन्दभाव में जिन व्यक्तियों के शारीरिक लक्षण परिवर्तित होते हैं और जो भगवान् की महिमा का श्रवण करने पर गहरी-गहरी साँस लेने लगते हैं तथा प्रस्वेदित हो उठते हैं, वे भगवद्धाम को जाते हैं भले ही वे ध्यान तथा अन्य अनुष्ठानों की तनिक भी परवाह न करते हों। भगवद्धाम भौतिक ब्रह्माण्डों के ऊपर है और ब्रह्मा तथा अन्य देवतागण तक इसकी इच्छा करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट कथन है कि भगवद्धाम भौतिक ब्रह्माण्डों के ऊपर है। जिस प्रकार इस पृथ्वी के ऊपर लाखों उच्चतर लोक हैं उसी तरह आध्यात्मिक आकाश से सम्बन्धित लाखों करोड़ों

आध्यात्मिक लोक हैं। ब्रह्माजी यहाँ कहते हैं कि आध्यात्मिक जगत देवताओं के लोक के ऊपर है। मनुष्य भगवद्धाम में तभी प्रवेश कर सकता है जब उसमें वांछनीय गुण अत्यधिक विकसित हों। भक्त में सारे सद्गुण विकसित हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है कि जो कृष्णभावनाभावित होता है, वह देवताओं के सभी सद्गुणों से समन्वित होता है। भौतिक जगत में देवताओं के सद्गुणों की अत्यधिक सराहना की जाती है, जिस तरह, जैसा हमारा अनुभव है, भद्रपुरुष के गुणों की सराहना अज्ञानी व्यक्ति या निम्न जीवन में रहने वाले की तुलना में अधिक की जाती है। उच्चतर लोकों के देवताओं के गुण इस पृथ्वी के निवासियों के गुणों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं।

यहाँ पर ब्रह्माजी पुष्टि करते हैं कि केवल वे ही व्यक्ति भगवद्धाम में प्रवेश कर सकते हैं जिन्होंने वांछनीय गुण विकसित कर लिये हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भक्त के वांछनीय गुणों की संख्या २६ बतलाई गई है। वे इस प्रकार हैं: वह अत्यन्त दयालु होता है; वह किसी से झगड़ता नहीं; वह कृष्णभावनामृत को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार करता है; वह सबों पर समभाव रखता है; उसके चरित्र में दोष नहीं निकाला जा सकता; वह उदार, मृदु तथा सदैव भीतर-बाहर से स्वच्छ रहता है; वह इस जगत में किसी वस्तु पर अपना दावा नहीं करता; वह सारे जीवों का उपकारी होता है; वह शान्त रहता है और पूर्णतया कृष्ण के शरणागत होता है; वह निष्काम होता है; वह दीन, विनीत, सदैव स्थिर रहता है और उसने इन्द्रियों के कार्यकलापों को जीत लिया होता है; वह शरीर के निर्वाह से अधिक भोजन नहीं करता; वह भौतिक पहचान के पीछे पागल नहीं रहता; वह अन्यो को आदर देता (मानप्रद) है, किन्तु अपने आदर का भूखा नहीं रहता (अमानी); वह अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त दयालु तथा सौहार्दपूर्ण होता है; वह कवित्वमय होता है; वह सारे कार्यों में दक्ष होता है और व्यर्थ चर्चा के समय मौन रहता है। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२१) में सन्त पुरुष के गुणों का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि भगवद्धाम जाने का पात्र सन्त पुरुष अत्यन्त सहिष्णु तथा समस्त जीवों पर अतीव दयालु होता है। वह पक्षपात नहीं करता; वह मनुष्यों तथा पशुओं दोनों ही के प्रति दयालु होता है। वह ऐसा मूर्ख नहीं होता कि मनुष्य नारायण या दरिद्रनारायण को खिलाने के लिए बकरा-नारायण की हत्या करे। वह सारे जीवों के प्रति अत्यन्त दयालु होता है, अतएव उसका कोई शत्रु नहीं होता। वह अत्यन्त शान्त रहता है। ये गुण उन पुरुषों के हैं, जो भगवद्धाम में प्रवेश करने के योग्य हैं। ऐसा व्यक्ति धीरे

धीरे मुक्त होकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है। इस बात की पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में की गई है। *श्रीमद्भागवत* में ही (२.३.२४) अन्यत्र कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति निरपराध भाव से भगवन्नाम का कीर्तन करने के बाद क्रन्दन या शारीरिक परिवर्तन प्रदर्शित नहीं करता (नामापराध) तो समझना चाहिए कि वह कठोर हृदय है, जिससे उसका हृदय भगवन्नाम का, अर्थात् हरे कृष्ण का उच्चारण करने के बाद भी नहीं बदलता। ये शारीरिक परिवर्तन भाव के कारण हो सकते हैं जब हम निरपराध भाव से भगवन्नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि हमें दस अपराधों से बचना चाहिए। पहला अपराध है उन लोगों की बुराई करना जो अपने जीवन में भगवान् की महिमा का प्रसार करना चाहते हैं। लोगों को परम पुरुष की महिमा समझने में शिक्षित किया जाना चाहिए, अतः जो भक्तगण भगवान् की महिमा का प्रचार करने में लगे रहते हैं उनकी बुराई कभी भी नहीं करनी चाहिए। यह सबसे भारी अपराध है। इसके अतिरिक्त विष्णु का पवित्र नाम सबसे अधिक शुभ (मंगलमय) नाम है और उनकी लीलाएँ भी उनके पवित्र नाम से अभिन्न हैं। ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो यह कहते हैं कि चाहे कोई हरे कृष्ण का कीर्तन करे चाहे काली, दुर्गा या शिव के नामों का कीर्तन करे, क्योंकि ये सभी समान हैं। यदि कोई यह सोचता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का नाम तथा देवताओं के नाम एवं कार्य-कलाप एकसमान हैं या यदि कोई व्यक्ति विष्णु के पवित्र नाम को भौतिक ध्वनि मानता है, तो यह भी एक अपराध है। तीसरा अपराध है भगवान् की महिमा का प्रसार करने वाले गुरु को सामान्य मनुष्य समझना। चौथा अपराध है वैदिक ग्रंथों को यथा पुराणों या अन्य दिव्य शास्त्रों को सामान्य ज्ञान की पुस्तकों के रूप में मानना। पाँचवा अपराध यह सोचना है कि भक्तों ने भगवान् के पवित्र नाम को कृत्रिम महत्ता प्रदान की हुई है। असलर तथ्य तो यह है कि भगवान् अपने नाम से अभिन्न हैं। सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो भगवन्नाम का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—है, जो इस युग के लिए संस्तुत है। छठा अपराध है भगवान के पवित्र नाम पर किसी प्रकार की व्याख्या करना। सातवाँ अपराध है भगवन्नाम के कीर्तन के बल पर पापकर्म करना। यह ज्ञात है कि मनुष्य एकमात्र भगवन्नाम का कीर्तन करने से समस्त पापों से मुक्त किया जा सकता है, किन्तु इसीलिए

यदि कोई यह सोचे कि वह सभी तरह के पापकर्म करने के लिए स्वतंत्र है, तो यह अपराध का लक्षण है। आठवाँ अपराध है हरे कृष्ण कीर्तन की समता अन्य आध्यात्मिक कार्यों यथा ध्यान, तपस्या या यज्ञ से करना। इन्हें किसी भी स्तर पर समान नहीं बतलाया जा सकता। नौवाँ अपराध है ऐसे व्यक्तियों के समक्ष पवित्र नाम की महत्ता का गुणगान करना जिन्हें उसमें कोई रुचि न हो। दसवाँ अपराध है, आध्यात्मिक अनुशीलन की प्रक्रिया को करते समय किसी वस्तु का स्वामी होने की भ्रान्त धारणा के प्रति अनुरक्ति रखना या शरीर को आत्मा मानना।

जब मनुष्य भगवन्नाम का कीर्तन करते समय इन दसों अपराधों से मुक्त होता है, तो उसमें शारीरिक भावलक्षण उत्पन्न होते हैं, जो *पुलकाश्रु* कहलाते हैं। *पुलक* का अर्थ है “सुख का लक्षण” तथा *अश्रु* का अर्थ है “आँखों में आँसू।” जिस व्यक्ति ने पवित्र नाम का कीर्तन निरपराध भाव से किया हो उसमें सुख तथा अश्रु के लक्षण प्रकट होने चाहिए। इस श्लोक में बतलाया गया है कि जिन लोगों ने भगवान् की महिमा के कीर्तन द्वारा सुख तथा अश्रु के लक्षण वास्तव में विकसित कर लिये हैं, वे भगवद्धाम में प्रवेश करने के पात्र हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि यदि हरे कृष्ण कीर्तन करते समय किसी पुरुष में ये लक्षण विकसित नहीं होते तो समझना चाहिए कि अब भी वह अपराधपूर्ण है। इस सन्दर्भ में *चैतन्य-चरितामृत* में एक सुन्दर उपचार का प्रस्ताव है। *आदि लीला* (८.३१) में कहा गया है कि यदि कोई श्री चैतन्य महाप्रभु की शरण ग्रहण करता है और केवल भगवन्नाम, हरे कृष्ण, का कीर्तन करता है, तो वह सारे अपराधों से मुक्त हो जाता है।

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं

दिव्यं विचित्रविबुधाछ्यविमानशोचिः ।

आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-

मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; विश्व-गुरु—ब्रह्माण्ड के गुरु अर्थात् परमेश्वर द्वारा; अधिकृतम्—अधिकृत; भुवन—लोकों का; एक—एकमात्र; वन्द्यम्—पूजा जाने योग्य; दिव्यम्—आध्यात्मिक; विचित्र—अत्यधिक अलंकृत; विबुध-अछ्य—भक्तों का (जो विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ हैं); विमान—वायुयानों का; शोचिः—प्रकाशित; आपुः—प्राप्त किया; पराम्—सर्वोच्च; मुदम्—सुख; अपूर्वम्—अभूतपूर्व; उपेत्य—प्राप्त करके; योग-माया—आध्यात्मिक शक्ति द्वारा; बलेन—प्रभाव द्वारा; मुनयः—मुनिगण; तत्—वैकुण्ठ; अथो—वह; विकुण्ठम्—विष्णु।

इस तरह सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार नामक महर्षियों ने अपने योग बल से

आध्यात्मिक जगत के उपर्युक्त वैकुण्ठ में पहुँच कर अभूतपूर्व सुख का अनुभव किया। उन्होंने पाया कि आध्यात्मिक आकाश अत्यधिक अलंकृत विमानों से, जो वैकुण्ठ के सर्वश्रेष्ठ भक्तों द्वारा चालित थे, प्रकाशमान था और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अधिशासित था।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं। वे सबों के ऊपर हैं। न तो कोई उनके समान है, न उनसे बड़ा। अतएव उन्हें यहाँ *विश्व गुरु* कहा गया है। वे सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि के आदि पुरुष हैं और *भुवनैकवन्द्यम्* अर्थात् तीनों लोकों में एकमात्र पूज्य व्यक्ति हैं। आध्यात्मिक आकाश के विमान स्वतः प्रकाशित रहते हैं और भगवान् के महान् भक्तों के द्वारा संचालित होते हैं। दूसरे शब्दों में, वैकुण्ठलोकों में भौतिक जगत में उपलब्ध वस्तुओं की कोई कमी नहीं है—वे उपलब्ध हैं, किन्तु वे अधिक मूल्यवान् हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक हैं, अतः शाश्वत तथा आनन्दमय हैं। मुनियों को अभूतपूर्व सुख का अनुभव इसलिए हुआ क्योंकि वैकुण्ठ किसी सामान्य व्यक्ति द्वारा अधिशासित न था। वैकुण्ठलोक कृष्ण के अंशों द्वारा अधिशासित हैं, जो मधुसूदन... जाने जाते हैं। ये दिव्य लोक इसलिए पूजनीय हैं, क्योंकि इनमें स्वयं भगवान् शासन करते हैं। कहा जाता है कि चारों मुनि अपने योग बल से दिव्य आध्यात्मिक आकाश में पहुँचे। यही योग पद्धति की सिद्धि है। प्राणायाम तथा अच्छा स्वास्थ्य बनाने के लिए अनुशासन ही योग सिद्धि के अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। योग प्रणाली सामान्य रूप से *अष्टांग योग* या *सिद्धि* के रूप में जानी जाती है। *योग सिद्धि* के बल से मनुष्य हल्के से हल्का और भारी से भारी हो सकता है। वह जहाँ चाहे जा सकता है और इच्छानुसार ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। ऐसी आठ सिद्धियाँ हैं। चारों कुमार ऋषि-गण हल्के से हल्का होकर वैकुण्ठ पहुँचे और इस तरह उन्होंने भौतिक जगत के अन्तरिक्ष को पार किया। आधुनिक यांत्रिक अन्तरिक्ष यान इसलिए असफल हैं, क्योंकि वे इस भौतिक सृष्टि के सर्वोच्च क्षेत्र में नहीं पहुँचे सकते और आध्यात्मिक आकाश में तो प्रवेश कर ही नहीं सकते। किन्तु *योग सिद्धि* से मनुष्य न केवल भौतिक अन्तरिक्ष में यात्रा कर सकता है, अपितु भौतिक अन्तरिक्ष को पार करके आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश कर सकता है। हम इस तथ्य को दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष विषयक घटना से भी जानते हैं। ऐसा समझा जाता है कि दुर्वासा मुनि ने एक वर्ष तक सर्वत्र यात्रा की और वे आध्यात्मिक आकाश में भगवान् नारायण से भेंट करने गये। वर्तमान मानदण्ड के अनुसार विज्ञानियों की गणना है कि यदि कोई प्रकाश की गति से यात्रा कर सके तो इस

भौतिक जगत के सर्वोच्च लोक तक पहुँचने में चालीस हजार वर्ष लग जायेंगे। किन्तु योगपद्धति मनुष्य को बिना सीमा या कठिनाई के उठा ले जा सकती है। इस श्लोक में *योगमाया* शब्द आया है। *योगमायाबलेन विकुण्ठम्*। आध्यात्मिक जगत तथा अन्य समस्त आध्यात्मिक प्राकट्यों में प्रदर्शित दिव्य सुख *योगमाया* के बल से सम्भव बन पाते हैं।

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः

कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।

देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-

केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस वैकुण्ठ में; अतीत्य—पार कर लेने पर; मुनयः—मुनियों ने; षट्—छह; असज्ज मानाः—बिना आकृष्ट हुए; कक्षाः—द्वार; समान—बराबर; वयसौ—आयु; अथ—तत्पश्चात्; सप्तमायाम्—सातवें द्वार पर; देवौ—वैकुण्ठ के दो द्वारपालों; अचक्षत—देखा; गृहीत—लिये हुए; गदौ—गदाएँ; पर-अर्ध्य—सर्वाधिक मूल्यवान्; केयूर—बाजूबन्द; कुण्डल—कान के आभूषण; किरीट—मुकुट; विटङ्क—सुन्दर; वेषौ—वस्त्र।

भगवान् के आवास वैकुण्ठपुरी के छः द्वारों को पार करने के बाद और सजावट से तनिक भी आश्चर्यचकित हुए बिना, उन्होंने सातवें द्वार पर एक ही आयु के दो चमचमाते प्राणियों को देखा जो गदाएँ लिए हुए थे और अत्यन्त मूल्यवान् आभूषणों, कुण्डलों, हीरों, मुकुटों, वस्त्रों इत्यादि से अलंकृत थे।

तात्पर्य : ये ऋषि वैकुण्ठपुरी में भगवान् को देखने के लिए इतने उत्सुक थे कि उन्होंने उन छह द्वारों की दिव्य सजावट को देखने की परवाह नहीं की जिनसे वे एक एक करके गुजरे थे। किन्तु सातवें द्वार पर उन्हें एक ही आयु के दो द्वारपाल मिले। द्वारपालों के एक ही आयु के होने का महत्त्व यह है कि वैकुण्ठलोकों में वृद्धावस्था नहीं होती, अतएव कोई यह अन्तर नहीं कर सकता कि कौन किससे अधिक आयु का है। वैकुण्ठवासीगण भगवान् नारायण की ही तरह शंख, चक्र, गदा तथा पद्म से अलंकृत रहते हैं।

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ

विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।

वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां

रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मत्त—उन्मत्त; द्वि-रेफ—भौर; वन-मालिकया—ताजे फूलों की माला से; निवीतौ—गर्दन पर लटकते; विन्यस्तया—चारों ओर रखे हुए; असित—नीला; चतुष्टय—चार; बाहु—हाथ; मध्ये—बीच में; वक्त्रम्—मुखमण्डल; भ्रुवा—भौहों से; कुटिलया—टेढ़ी; स्फुट—हुँकारते हुए; निर्गमाभ्याम्—श्वास; रक्त—लालाभ; ईक्षणेन—आँखों से; च—तथा; मनाक्—कुछ कुछ; रभसम्—चंचल, क्षुब्ध; दधानौ—दृष्टि फेरी।

दोनों द्वारपाल ताजे फूलों की माला पहने थे, जो मदोन्मत्त भौरों को आकृष्ट कर रही थीं और उनके गले के चारों ओर तथा उनकी चार नीली बाहों के बीच में पड़ी हुई थीं। अपनी कुटिल भौहों, अतृप्त नथनों तथा लाल लाल आँखों से वे कुछ कुछ क्षुब्ध प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : उनकी मालाएँ भौरों के झुंडों को आकृष्ट कर रही थीं, क्योंकि ये मालाएँ ताजे फूलों की थीं। वैकुण्ठलोक में हर वस्तु ताजी, नवीन तथा दिव्य होती है। वैकुण्ठ के निवासियों के शरीर नीलाभ रंग के होते हैं और नारायण के ही समान उनके चार हाथ होते हैं।

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ठा

पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः ।

सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या

ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिश्ङ्गाः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

द्वारि—द्वार पर; एतयोः—दोनों द्वारपाल; निविविशुः—प्रवेश किया; मिषतोः—देखते देखते; अपृष्ठा—बिना पूछे; पूर्वाः—पहले की तरह; यथा—जिस तरह; पुरट—स्वर्ण; वज्र—तथा हीरों से बना; कपाटिकाः—दरवाजे; याः—जो; सर्वत्र—सभी जगह; ते—वे; अविष-मया—बिना भेदभाव के; मुनयः—मुनिगण; स्व-दृष्ट्या—स्वेच्छा से; ये—जो; सञ्चरन्ति—विचरण करते हैं; अविहताः—बिना रोक टोक के; विगत—बिना; अभिश्ङ्गाः—सन्देह।

सनक इत्यादि मुनियों ने सभी जगहों के दरवाजों को खोला। उन्हें अपने पराये का कोई विचार नहीं था। उन्होंने खुले मन से स्वेच्छा से उसी तरह सातवें द्वार में प्रवेश किया जिस तरह वे अन्य छह दरवाजों से होकर आये थे, जो सोने तथा हीरों से बने हुए थे।

तात्पर्य : सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार महर्षि यद्यपि काफी उग्र के थे, किन्तु अपने को शाश्वत रूप से छोटे बच्चों की तरह बनाए हुए थे। वे दुविधारहित थे और वे दरवाजों में उसी तरह प्रविष्ट हुए जिस तरह छोटे बच्चे अतिक्रमण क्या होता है, उस पर बिना किसी विचार के प्रवेश करते हैं। यह बच्चे का स्वभाव होता है। बच्चा किसी भी स्थान में प्रवेश कर सकता है और उसे कोई नहीं रोकता। निस्सन्देह कि सामान्यतया किसी भी स्थान में जाने के प्रयास के लिए बच्चे का स्वागत होता है, किन्तु यदि बच्चे को दरवाजे में प्रविष्ट होने से रोका जाता है, तो वह बहुत दुखी और क्रुद्ध होता है।

यह बालक का स्वभाव है। यहाँ पर वही बात हुई। बच्चों जैसे साधु पुरुष राजमहल के छहों द्वारों में घुसते गये और उन्हें किसी ने नहीं रोका, अतएव जब उन्होंने सातवें द्वार में प्रविष्ट होने का प्रयास किया और उन्हें द्वारपालों द्वारा मना किया गया जिन्होंने अपनी लाठियों से रोका तो स्वभावतः वे अत्यधिक क्रुद्ध तथा दुखी हुए। कोई सामान्य बालक तो चिल्लाया होता, किन्तु ये सामान्य बालक न थे, अतः इन्होंने तुरन्त द्वारपालों को दण्ड देने की तैयारी कर ली, क्योंकि इन द्वारपालों ने बहुत बड़ा अपराध किया था। भारत में आज भी किसी सन्तपुरुष को किसी के द्वार में घुसने से कभी नहीं रोका जाता।

तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्
 वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
 वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
 तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; वीक्ष्य—देखकर; वात-रशान्—नग्न; चतुरः—चार; कुमारान्—बालकों को; वृद्धान्—काफी आयु वाले; दश-अर्ध—पाँच वर्ष; वयसः—आयु के लगने वाले; विदित—अनुभव कर चुके थे; आत्म-तत्त्वान्—आत्मा के सत्य को; वेत्रेण—अपने डंडों से; च—भी; अस्खलयताम्—मना किया; अ-तत्-अर्हणान्—उनसे ऐसी आशा न करते हुए; तौ—वे दोनों द्वारपाल; तेजः—यश; विहस्य—शिष्टाचार की परवाह न करके; भगवत्-प्रतिकूल-शीलौ—भगवान् को नाराज करने वाले स्वभाव वाले।

चारों बालक मुनि, जिनके पास अपने शरीरों को ढकने के लिए वायुमण्डल के अतिरिक्त कुछ नहीं था, पाँच वर्ष की आयु के लग रहे थे यद्यपि वे समस्त जीवों में सबसे वृद्ध थे और उन्होंने आत्मा के सत्य की अनुभूति प्राप्त कर ली थी। किन्तु जब द्वारपालों ने, जिनके स्वभाव भगवान् को तनिक भी रुचिकर न थे, इन मुनियों को देखा तो उन्होंने उनके यश का उपहास करते हुए अपने डंडों से उनका रास्ता रोक दिया, यद्यपि ये मुनि उनके हाथों ऐसा बर्ताव पाने के योग्य न थे।

तात्पर्य : चारों मुनि ब्रह्मा के सर्वप्रथम उत्पन्न पुत्र थे। अतः शिवजी समेत अन्य सारे जीव बाद में उत्पन्न हुए जीव हैं, अतएव वे चारों कुमारों से छोटे हैं। यद्यपि वे पाँच वर्षीय बालकों जैसे लग रहे थे और नंगे विचरण कर रहे थे, किन्तु वे अन्य सारे जीवों से अधिक वय के थे और उन्होंने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था। ऐसे सन्तों को वैकुण्ठलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट होने से मना नहीं किया जाना था, किन्तु संयोगवश द्वारपालों ने उनके प्रवेश पर आपत्ति की। यह उचित नहीं था। भगवान्

कुमारों जैसे मुनियों की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं, किन्तु यह बात जानते हुए भी द्वारपालों ने आश्चर्यजनक रूप से तथा क्रोधवश उन्हें प्रवेश करने से मना किया।

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः

स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।

ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-

त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ताभ्याम्—उन दोनों द्वारपालों द्वारा; मिषत्सु—इधर उधर देखते हुए; अनिमिषेषु—वैकुण्ठ में रहने वाले देवताओं; निषिध्यमानाः—मना किये जाने पर; सु-अर्हत्तमाः—सर्वोपयुक्त व्यक्तियों द्वारा; हि अपि—यद्यपि; हरेः—भगवान् हरि का; प्रतिहार-पाभ्याम्—दो द्वारपालों द्वारा; ऊचुः—कहा; सुहृत्-तम—अत्यधिक प्रिय; दिदृक्षित—देखने की उत्सुकता; भङ्ग—अवरोध; ईषत्—कुछ कुछ; काम-अनुजेन—काम के छोटे भाई (क्रोध) द्वारा; सहसा—अचानक; ते—वे ऋषि; उपप्लुत—विक्षुब्ध; अक्षाः—आँखें।

इस तरह सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति होते हुए भी जब चारों कुमार अन्य देवताओं के देखते देखते श्री हरि के दो प्रमुख द्वारपालों द्वारा प्रवेश करने से रोक दिये गये तो अपने सर्वाधिक प्रिय स्वामी श्रीहरि को देखने की परम उत्सुकता के कारण उनके नेत्र क्रोधवश सहसा लाल हो गये।

तात्पर्य : वैदिक प्रणाली के अनुसार संन्यासी गेरुवे वस्त्र धारण किये रहता है। यह गेरुवा वेश एक तरह से संन्यासी तथा साधु के लिए कहीं भी जाने के लिए व्यावसायिक दृष्टि से एक पारपत्र (पासपोर्ट) होता है। संन्यासी का कर्तव्य लोगों को कृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध करना है। संन्यास आश्रम बितानेवाले लोगों के पास पुरुषोत्तम भगवान् की महिमा तथा श्रेष्ठता का प्रचार करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता। अतएव वैदिक समाजशास्त्रीय धारणा यह है कि संन्यासी पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। वह जहाँ भी जाना चाहे उसे जाने देना चाहिए और गृहस्थ से जो भेंट माँगे, उससे उसे इनकार नहीं करना चाहिए। चारों कुमार भगवान् नारायण का दर्शन करने आये थे। सुहृत्तमम् शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है “समस्त मित्रों में श्रेष्ठ।” जैसाकि भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं सुहृदं सर्वभूतानाम्—वे सारे जीवों के सर्वोत्तम मित्र हैं। जीवों का भगवान् से बढ़कर जीवों का हितैषी मित्र कोई नहीं हो सकता। वे सबों के प्रति इतने दयालु रहते हैं कि हमारे द्वारा भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिये जाने पर भी वे स्वयं आते हैं—कभी सशरीर जिस तरह कि इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण प्रकट हुए थे तथा कभी कभी अपने भक्त के रूप में जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया

और कभी कभी वे समस्त पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए अपने प्रामाणिक भक्तों को भेजते हैं। अतः वे सबों के सबसे बड़े हितैषी मित्र हैं और कुमारगण उनसे मिलना चाहते थे। द्वारपालों को यह जान लेना चाहिए था कि चारों मुनियों के पास कोई अन्य कार्य नहीं था, अतएव उन्हें महल में प्रविष्ट होने से रोकना उचित नहीं था।

इस श्लोक में अलंकारिक रूप में कहा गया है कि जब मुनियों को प्रियतम भगवान् से मिलने के लिए रोका गया तो सहसा उनमें काम का छोटा भाई प्रकट हुआ। काम का छोटा भाई क्रोध है। यदि किसी की कामना या इच्छा पूरी नहीं होती, तो छोटा भाई क्रोध पीछे-पीछे चला आता है। यहाँ हम यह देख सकते हैं कि कुमारों जैसे सन्तपुरुष भी क्रुद्ध थे, किन्तु वे अपने स्वार्थ के लिए क्रुद्ध न थे। वे इसलिए क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भगवान् से मिलने के लिए महल के भीतर प्रवेश करने से रोका गया था। अतएव इस श्लोक में इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती कि सिद्धावस्था में मनुष्य को क्रोध नहीं आना चाहिए। क्रोध मुक्तावस्था में भी आता रहता है। ये चारों साधु भाई, कुमारगण, मुक्त पुरुष माने जाते थे; फिर भी वे क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भगवान् की सेवा करने से रोका गया था। एक सामान्य व्यक्ति तथा एक मुक्त पुरुष के क्रोध में यह अन्तर है कि सामान्य व्यक्ति इसलिए क्रुद्ध होता है कि उसकी इन्द्रिय-इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, किन्तु कुमारगण जैसे व्यक्ति तब क्रुद्ध होते हैं जब उन्हें भगवान् की सेवा करने से रोका जाता है।

पिछले श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि कुमारगण मुक्त पुरुष थे। *विदितात्म-तत्त्व* का अर्थ है “जो आत्म-साक्षात्कार के सत्य को समझता है।” जो आत्म-साक्षात्कार के सत्य को नहीं समझता वह अज्ञानी कहलाता है, किन्तु जो आत्मा, परमात्मा, उनके अन्तःसम्बन्ध तथा आत्म-साक्षात्कार में कार्यकलापों को जानता है, वह *विदितात्म-तत्त्व* कहलाता है। यद्यपि कुमारगण पहले से मुक्त पुरुष थे फिर भी वे क्रुद्ध हुए। यह बिन्दु बहुत महत्वपूर्ण है। मुक्त होने पर यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने इन्द्रिय-कार्यकलापों को छोड़ दें। इन्द्रिय-कार्यकलाप मुक्तावस्था में भी चलते रहते हैं। किन्तु अन्तर इतना ही होता है कि मुक्तावस्था में इन्द्रिय कार्यकलापों को केवल कृष्णभावनामृत के सन्दर्भ में स्वीकार किया जाता है, जबकि बद्धावस्था में इन्द्रिय कार्यकलाप निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं।

मुनय ऊचुः

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-

स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।

तस्मिन्प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां

को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—मुनियों ने; ऊचुः—कहा; कः—कौन; वाम्—तुम दोनों; इह—वैकुण्ठ में; एत्य—प्राप्त करके; भगवत्—भगवान् को; परिचर्यया—सेवा द्वारा; उच्चैः—विगत पुण्यकर्मों के द्वारा उन्नति करके; तत्-धर्मिणाम्—भक्तों के; निवसताम्—वैकुण्ठ में रहते हुए; विषमः—विरोधी; स्वभावः—मनोवृत्ति; तस्मिन्—भगवान् में; प्रशान्त-पुरुषे—निश्चिन्त, चिन्तारहित; गत-विग्रहे—शत्रुविहीन; वाम्—तुम दोनों का; कः—कौन; वा—अथवा; आत्म-वत्—अपने समान; कुहकयोः—द्वैतभाव रखने वाले; परिशङ्कनीयः—विश्वासपात्र न होना ।

मुनियों ने कहा : ये दोनों व्यक्ति कौन हैं जिन्होंने ऐसी विरोधात्मक मनोवृत्ति विकसित कर रखी है। ये भगवान् की सेवा करने के उच्चतम पद पर नियुक्त हैं और इनसे यह उम्मीद की जाती है कि इन्होंने भगवान् जैसे ही गुण विकसित कर रखे होंगे? ये दोनों व्यक्ति वैकुण्ठ में किस तरह रह रहे हैं? इस भगवद्धाम में किसी शत्रु के आने की सम्भावना कहाँ है? पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का कोई शत्रु नहीं है। भला उनका कौन ईर्ष्यालु हो सकता है? शायद ये दोनों व्यक्ति कपटी हैं, अतएव अपनी ही तरह होने की अन्यो पर शंका करते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोक के वासियों तथा भौतिक लोक के वासियों में अन्तर यह है कि वैकुण्ठ में सारे निवासी भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं और उनके समस्त सद्गुणों से युक्त होते हैं। महापुरुषों ने यह विश्लेषण किया है कि जब कोई बद्धजीव मुक्त होता है और भक्त बनता है, तो भगवान् के लगभग ७९ प्रतिशत सद्गुण उसमें आ जाते हैं। अतएव वैकुण्ठलोक में भगवान् तथा निवासियों के बीच शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भौतिक जगत में नागरिक मुख्य प्रशासकों या राज्याध्यक्षों के प्रति शत्रुता रख सकते हैं, किन्तु वैकुण्ठ में ऐसी कोई मनोवृत्ति नहीं होती। जब तक मनुष्य पूरी तरह सद्गुण विकसित नहीं कर लेता तब तक उसे वैकुण्ठ में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता। अच्छाई या सद्गुणशीलता का मूल सिद्धान्त है भगवान् की अधीनता स्वीकार करना। इसीलिए मुनिगण चकित थे कि उन्हें महल में प्रविष्ट होने से रोकने वाले दोनों द्वारपाल वैकुण्ठलोक के वासियों जैसे नहीं थे। कहा जा सकता है कि द्वारपाल का कर्तव्य यह निश्चित करना है कि किसे महल में प्रवेश करने दिया जाय और किसे नहीं। किन्तु इस सन्दर्भ में यह प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि वैकुण्ठ में किसी को तब तक

प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता जब तक वह भगवान् की भक्ति में शतप्रतिशत उन्मुख नहीं हो लेता। वैकुण्ठलोकों में भगवान् का कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। कुमारों ने यह निष्कर्ष निकाला कि द्वारपाल उन्हें केवल इसलिए रोक रहे थे, क्योंकि वे स्वयं कपटी थे।

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-

वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।

पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं

व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—क्योंकि; अन्तरम्—भेद, अन्तर; भगवति—भगवान् में; इह—यहाँ; समस्त-कुक्षौ—हर वस्तु उदर के भीतर है; आत्मानम्—जीव; आत्मनि—परमात्मा में; नभः—वायु की अल्प मात्रा; नभसि—सम्पूर्ण वायु के भीतर; इव—सदृश; धीराः—विद्वान्; पश्यन्ति—देखते हैं; यत्र—जिसमें; युवयोः—तुम दोनों का; सुर-लिङ्गिनोः—वैकुण्ठवासियों की तरह वेश बनाएँ; किम्—कैसे; व्युत्पादितम्—विकसित, जागृत; हि—निश्चय ही; उदर-भेदि—शरीर तथा आत्मा में अन्तर; भयम्—डर; यतः—जहाँ से; अस्य—परमेश्वर का।

वैकुण्ठलोक में वहाँ के निवासियों तथा भगवान् में उसी तरह पूर्ण सामञ्जस्य है, जिस तरह अन्तरिक्ष में वृहत् तथा लघु आकाशों में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। तो इस सामञ्जस्य के क्षेत्र में भय का बीज क्यों है? ये दोनों व्यक्ति वैकुण्ठवासियों की तरह वेश धारण किये हैं, किन्तु उनका यह असामञ्जस्य कहाँ से उत्पन्न हुआ?

तात्पर्य : जिस तरह इस भौतिक जगत में हर राज्य में विभिन्न विभाग होते हैं—यथा नागरिक विभाग तथा अपराधी विभाग—उसी तरह ईश्वर की सृष्टि में भी दो विभाग हैं। जिस तरह भौतिक जगत में हम देखते हैं कि अपराध विभाग नागरिक विभाग की अपेक्षा बहुत ही छोटा होता है उसी तरह यह भौतिक जगत, जो कि अपराध विभाग माना जाता है, भगवान् की सम्पूर्ण सृष्टि का एक चतुर्थांश है। सारे जीव जो कि भौतिक ब्रह्माण्डों के निवासी हैं, न्यूनाधिक रूप में अपराधी माने जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करना चाहते या ईश्वर की इच्छा वाले सामंजस्यपूर्ण कार्यों के विरुद्ध रहते हैं। सृष्टि का सिद्धान्त यह है कि भगवान् स्वभाव से प्रसन्नचित्त हैं और अपनी दिव्य प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए ही वे अनेक बनते हैं। हमारे जैसे जीव, भगवान् के अंश होने के कारण, भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने के निमित्त हैं। अतः जब भी उस सामञ्जस्य में कोई विसंगति आती है, तो जीव तुरन्त ही माया की पकड़ में आ जाता है।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति भौतिक जगत कहलाती है और भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का साम्राज्य वैकुण्ठ या भगवद्धाम कहलाता है। वैकुण्ठलोक में भगवान् तथा उसके निवासियों के मध्य कोई असामञ्जस्य नहीं रहता। अतएव वैकुण्ठ लोक में ईश्वर की सृष्टि पूर्ण है। वहाँ भय का कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण भगवद्धाम एक ऐसी पूर्णतया सामञ्जस्ययुक्त इकाई है कि उसमें शत्रुता की कोई सम्भावना नहीं है। वहाँ की हर वस्तु परम पूर्ण है। जिस तरह शरीर के भीतर बहुत सी शारीरिक संरचनाएँ होती हैं, किन्तु तो भी वे उदर की तुष्टि हेतु एक क्रम में कार्य करती हैं और जिस तरह किसी मशीन में हजारों पुर्जे होते हैं फिर भी मशीन के कार्य को पूरा करने के लिए सामञ्जस्यपूर्वक काम करते हैं उसी तरह वैकुण्ठ लोकों में भगवान् पूर्ण हैं तथा निवासी भी भगवान् की सेवाओं में पूर्णतया संलग्न रहते हैं।

मायावादी दार्शनिक अर्थात् निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या से यह अर्थ लगाते हैं कि छोटा आकाश तथा बृहत् आकाश एक हैं, किन्तु यह भाव युक्तियुक्त नहीं लगता। बृहद् आकाश तथा लघु आकाश का उदाहरण मनुष्य के शरीर के भीतर भी लागू होता है। बृहद् आकाश स्वयं शरीर है और आँतें तथा शरीर के अन्य अंग लघु आकाश में स्थान पाते हैं। शरीर के प्रत्येक अंश का अपना अपना महत्त्व है यद्यपि वे सम्पूर्ण शरीर के लघु अंश में रहते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् का शरीर है और हम सृजित जीव या सृजित कोई भी वस्तु उस शरीर के केवल लघु अंश हैं। शरीर के अंग कभी भी सम्पूर्ण शरीर के तुल्य नहीं होते। यह कभी भी सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सारे जीव जो कि भगवान् के भिन्नांश है शाश्वत तौर पर भिन्नांश रहते हैं। मायावादी दार्शनिकों के अनुसार मोहग्रस्त जीव अपने को भिन्नांश मानता है, यद्यपि वस्तुतः वह परम पूर्ण से तदाकार होता है। यह सिद्धान्त वैध नहीं हैं। सम्पूर्ण तथा अंश का एकत्व (ऐक्य) उनकी गुणता में हैं। आकाश के लघु तथा बृहद् अंशों के एकत्व का यह अर्थ नहीं है कि लघु आकाश बृहद् (महत्) आकाश बन जाता है।

वैकुण्ठलोकों में 'फूट डालो और राज्य करो' की राजनीति के लिए कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि भगवान् तथा निवासियों के स्वार्थ एक हैं। *माया* का अर्थ है जीवों तथा भगवान् के बीच असामञ्जस्य और वैकुण्ठ का अर्थ है उनके बीच सामञ्जस्य। वस्तुतः सारे जीवों का पालनपोषण

भगवान् द्वारा होता है, क्योंकि वे परम पुरुष हैं। किन्तु मूर्ख प्राणी, वास्तव में परम पुरुष के वश में होते हुए भी, उनके अस्तित्व की अवमानना करते हैं और वह स्थिति माया कहलाती है। कभी कभी वे इस बात से इनकार करते हैं कि ईश्वर जैसा कोई व्यक्तित्व भी है। उनका कहना है “हर वस्तु शून्य है,” और कभी कभी वे ईश्वर के होने से भिन्न प्रकार से इनकार करते हैं, जैसे “हो सकता है कि ईश्वर हो, किन्तु उनका कोई स्वरूप नहीं है।” ये दोनों धारणाएँ जीव की विद्रोही स्थिति के कारण उत्पन्न होती हैं। जब तक यह विद्रोही अवस्था बनी रहती है तब तक भौतिक जगत में असामञ्जस्य बना रहेगा।

सामञ्जस्य या असामञ्जस्य की अनुभूति किसी विशेष स्थान के कानून तथा व्यवस्था के कारण होती है। धर्म भगवान् का कानून तथा व्यवस्था है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में धर्म का अर्थ भक्तिमय सेवा या कृष्णभावनामृत पाया जाता है। कृष्ण कहते हैं, “सारे धर्मों को त्याग दो और एकमात्र मेरे शरणागत बनो।” यह है धर्म। जब मनुष्य को इसका पूरा-पूरा भान रहता है कि कृष्ण परम भोक्ता तथा परमेश्वर हैं और वह उसी के अनुसार कर्म करता है, तो वही असली धर्म है। जो भी वस्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाती है, वह धर्म नहीं है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, “अन्य सारे धर्मों को त्याग दो।” आध्यात्मिक जगत में कृष्णभावनामृत का यह धार्मिक सिद्धान्त सामञ्जस्य में बना रहता है, इसीलिए वह लोक वैकुण्ठ कहलाता है। यदि उन्हीं सिद्धान्तों को पूर्णतया या अंशतः यहाँ पर अपनाया जा सके तो यह भी वैकुण्ठ बन जाय। ऐसा किसी संघ या समिति के साथ भी होता है, यथा अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्य कृष्ण पर अपनी श्रद्धा केंद्रित करते हुए *भगवद्गीता* के आदेश तथा सिद्धान्तों के अनुसार सामञ्जस्यपूर्वक रहें तब तो वे वैकुण्ठ में रहते हैं, इस भौतिक जगत में नहीं।

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः

कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।

लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या

पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वाम्—इन दोनों को; अमुष्य—उस; परमस्य—परम का; विकुण्ठ-भर्तुः—वैकुण्ठ के स्वामी; कर्तुम्—प्रदान करने के लिए; प्रकृष्टम्—लाभ; इह—इस अपराध के विषय में; धीमहि—हम विचार करें; मन्द-धीभ्याम्—मन्द बुद्धि वाले;

लोकान्—भौतिक जगत को; इतः—इस स्थान (वैकुण्ठ) से; व्रजतम्—चले जाओ; अन्तर-भाव—द्विधा; दृष्ट्या—देखने के कारण; पापीयसः—पापी; त्रयः—तीन; इमे—ये; रिपवः—शत्रु; अस्य—जीव के; यत्र—जहाँ।

अतएव हम विचार करें कि इन दो संदूषित व्यक्तियों को किस तरह दण्ड दिया जाय। जो दण्ड दिया जाय वह उपयुक्त हो क्योंकि इस तरह से अन्ततः उन्हें लाभ दिया जा सकता है। चूँकि वे वैकुण्ठ जीवन के अस्तित्व में द्वैध पाते हैं, अतः वे संदूषित हैं और इन्हें इस स्थान से भौतिक जगत में भेज दिया जाना चाहिए जहाँ जीवों के तीन प्रकार के शत्रु होते हैं।

तात्पर्य : शुद्ध आत्माएँ भौतिक जगत की अस्तित्वपरक परिस्थितियों में, जो कि परमेश्वर का अपराध विभाग है, क्यों आती हैं? इसका वर्णन *भगवद्गीता* (७.२७) में हुआ है। यह कहा गया है कि जब तक जीव शुद्ध रहता है, वह परमेश्वर की इच्छाओं से सामञ्जस्य रखता है, किन्तु अशुद्ध होते ही वह परमेश्वर की इच्छाओं से असामञ्जस्य रखने लगता है। संदूषण के कारण उसे इस भौतिक जगत में स्थानान्तरित होने पर विवश किया जाता है जहाँ जीवों के तीन शत्रु होते हैं। ये हैं इच्छा, क्रोध तथा कामवासना। ये तीन शत्रु जीवों को भौतिक जगत में रहते रहने के लिए बाध्य करते हैं और जब कोई उनसे मुक्त हो जाता है, तो वह भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का पात्र बन जाता है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति का अवसर न मिलने पर मनुष्य को क्रुद्ध नहीं होना चाहिए और उसे आवश्यकता से अधिक पाने के लिए वासनापूर्ण नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि दोनों द्वारपालों को भौतिक जगत में भेज दिया जाना चाहिए जहाँ अपराधियों को रहने की अनुमति रहती है। चूँकि अपराध भावना के मूल सिद्धान्त इन्द्रियतृप्ति, क्रोध तथा अनावश्यक कामवासना हैं, अतः जो लोग जीव के इन तीन शत्रुओं द्वारा संचालित होते हैं, वे कभी भी वैकुण्ठलोक नहीं भेजे जाते। लोगों को *भगवद्गीता* पढ़ कर समझना चाहिए और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण को सारी वस्तुओं का स्वामी स्वीकार करना चाहिए। उन्हें अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास न करके परम पुरुष की इन्द्रियों को तुष्ट करने का अभ्यास करना चाहिए। कृष्णभावनामृत में प्रशिक्षण से मनुष्य को वैकुण्ठलोक जाने में सहायता मिलेगी।

तेषामितीरितमुभावधार्थं घोरं

तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।

सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्-

पादग्रहावपततामतिक्रातरेण ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—चारों कुमारों के; इति—इस प्रकार; ईरितम्—उच्चरित; उभौ—दोनों द्वारपाल; अवधार्य—समझ करके; घोरम्—भयंकर; तम्—उस; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण के शाप को; अनिवारणम्—जिसका निवारण न किया जा सके; अस्र-पूगैः—किसी प्रकार के हथियार द्वारा; सद्यः—तुरन्त; हरेः—भगवान् के; अनुचरौ—भक्तगण; उरु—अत्यधिक; बिभ्यतः—भयभीत हो उठे; तत्-पाद-ग्रहौ—उनके पाँव पकड़ कर; अपतताम्—गिर पड़े; अति-कातरेण—अत्यधिक चिन्ता में।

जब वैकुण्ठलोक के द्वारपालों ने, जो कि सचमुच ही भगवद्भक्त थे, यह देखा कि वे ब्राह्मणों द्वारा शापित होने वाले हैं, तो वे तुरन्त बहुत भयभीत हो उठे और अत्यधिक चिन्तावश ब्राह्मणों के चरणों पर गिर पड़े, क्योंकि ब्राह्मण के शाप का निवारण किसी भी प्रकार के हथियार से नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : यद्यपि संयोगवश द्वारपालों ने ब्राह्मणों को वैकुण्ठ के द्वार में प्रवेश करने से रोक कर भूल की थी, किन्तु उन्हें तुरन्त ही शाप की गम्भीरता का भान हो गया। अपराध कई प्रकार के होते हैं, किन्तु सबसे बड़ा अपराध है भगवद्भक्त का अपमान करना। चूँकि द्वारपाल भी भगवद्भक्त थे, अतएव उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई और जब चारों कुमार उन्हें शाप देने जा रहे थे तो वे भयभीत हो उठे।

भूयादघोनि भगवद्विरकारि दण्डो

यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।

मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो

मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

भूयात्—ऐसा ही हो; अघोनि—पापी के लिए; भगवद्विः—आपके द्वारा; अकारि—किया गया; दण्डः—दण्ड; यः—जो; नौ—हमारे सम्बन्ध में; हरेत—नष्ट करे; सुर-हेलनम्—महान् देवताओं की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए; अपि—निश्चय ही; अशेषम्—असीम; मा—नहीं; वः—तुम्हारा; अनुताप—पछतावा; कलया—थोड़ा थोड़ा करके; भगवत्—भगवान् का; स्मृति-घ्नः—स्मरण शक्ति का विनाश करते हुए; मोहः—मोह; भवेत्—हो; इह—मूर्ख जीवयोनि में; तु—लेकिन; नौ—हम दोनों का; व्रजतोः—जा रहे; अधः अधः—नीचे भौतिक जगत को।

मुनियों द्वारा शापित होने के बाद द्वारपालों ने कहा : यह ठीक ही हुआ कि आपने हमें आप जैसे मुनियों का अनादर करने के लिए दण्ड दिया है। किन्तु हमारी प्रार्थना है कि हमारे पछतावे पर आपकी दया के कारण हमें उस समय भगवान् की विस्मृति का मोह न आए जब हम नीचे-नीचे जा रहे हों।

तात्पर्य : दण्ड कितना ही कठोर क्यों न हो भक्त को सहन है, किन्तु भगवान् की विस्मृति कराने

वाला दण्ड सहन नहीं होता। द्वारपाल, जो स्वयं भी भक्त थे, समझ गये कि उन्हें कौन सा दण्ड दिया जाने वाला है, क्योंकि उन्होंने मुनियों को वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट न होने देकर जो महान् अपराध किया था उससे वे सचेष्ट थे। निम्नतम जीव योनियों में जिनमें पशुयोनि भी सम्मिलित हैं, ईश्वर की विस्मृति प्रमुख है। द्वारपाल इससे अवगत थे कि वे भौतिक जगत के अपराध विभाग में जा रहे हैं और उन्हें आशंका थी कि वे निम्नतम योनि में डाले जा सकते हैं जिससे वे परमेश्वर को भूल जाँय। इसलिए उन्होंने प्रार्थना की कि शाप के कारण उन्हें जो जीवन मिलने जा रहा है उसमें ऐसा घटित न हो। *भगवद्गीता* (१६.१९, २०) में कहा गया है कि जो लोग भगवान् तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं, वे जीवन की अतीव गर्हित योनियों में डाल दिये जाते हैं; ऐसे मूर्ख जन्म-जन्मांतर भगवान् का स्मरण नहीं कर पाते और इस तरह वे अधोगति को प्राप्त होते रहते हैं।

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः

स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।

तस्मिन्ययौ परमहंसमहामुनीना-

मन्वेषणीयचरणौ चलयन्सहश्रीः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तदा एव—उसी क्षण; भगवान्—भगवान्; अरविन्द-नाभः—जिसकी नाभि से कमल निकला है; स्वानाम्—अपने दासों के विषय में; विबुध्य—जानकर; सत्—मुनियों को; अतिक्रमम्—अपमान; आर्य—सदाचारियों की; हृद्यः—प्रसन्नता; तस्मिन्—वहाँ; ययौ—गये; परमहंस—परमहंस; महा-मुनीनाम्—महामुनियों द्वारा; अन्वेषणीय—जो खोजे जाने योग्य हैं; चरणौ—चरणकमल; चलयन्—विचरण करते हुए; सह-श्रीः—लक्ष्मीजी सहित।

नाभि से उगे कमल के कारण पद्मनाभ कहलाने वाले तथा सदाचारियों की प्रसन्नता के रूप भगवान् को उन सन्तों के प्रति अपने ही दासों के द्वारा किये गये अपमान का उसी क्षण पता चल गया। वे अपनी प्रेयसी लक्ष्मी सहित उस स्थान पर उन चरणों से चलकर गये जिनकी खोज संन्यासी तथा महामुनि करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् जोर देकर घोषणा करते हैं कि उनके भक्त कभी भी विनष्ट नहीं हो सकते। भगवान् समझ गये कि द्वारपालों तथा मुनियों के बीच का झगड़ा एक नया मोड़ ले रहा है, अतएव वे तुरन्त अपने धाम से निकल आये और झगड़े को आगे बढ़ने से रोकने के लिए उस स्थान पर गये जिससे उनके भक्त द्वारपाल सदा सदा के लिए विनष्ट न हों।

तं त्वागतं प्रतिहतौपयिकं स्वपुम्भि-
 स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
 हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
 च्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उन्हें; तु—लेकिन; आगतम्—आगे आए हुए; प्रतिहत—ले गया; औपयिकम्—साज-सामग्री; स्व-पुम्भिः—अपने संगियों द्वारा; ते—उन महामुनियों (कुमारगण) ने; अचक्षत—देखा; अक्ष-विषयम्—अब देखने का विषय; स्व-समाधि-भाग्यम्—भावमय समाधि द्वारा ही दृश्य; हंस-श्रियोः—श्वेत हंसों के समान सुन्दर; व्यजनयोः—चामर (श्वेत बालों के गुच्छे); शिव-वायु—अनुकूल वायु; लोलत्—हिलती हुई; शुभ्र-आतपत्र—श्वेत छाता; शशि—चन्द्रमा; केसर—मोतियों; शीकर—बूँदें; अम्बुम्—जल की ।

सनक इत्यादि मुनियों ने देखा कि भगवान् विष्णु जो भावमय समाधि में पहले उनके हृदयों के ही भीतर दृष्टिगोचर होते थे अब वे साकार रूप में उनके नेत्रों के सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं । जब वे छाता तथा चामर जैसी साज-सामग्री सहित अपने संगियों के साथ आगे आये तो श्वेत चामर के बालों के गुच्छे धीमे धीमे हिल रहे थे, मानो दो श्वेत हंस हों तथा अनुकूल हवा से छाते से लटक रही मोतियों की झालरें भी हिल रही थीं मानो श्वेत पूर्णचन्द्रमा से अमृत की बूँदें टपक रही हों, अथवा हवा के झोंके से बर्फ पिघल रही हो ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अचक्षताक्षविषयम्* शब्द आया है । भगवान् सामान्य नेत्रों से नहीं दिखते, किन्तु अब वे कुमारों के नेत्रों को दृष्टिगोचर हो रहे थे । अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *समाधिभाग्यम्* है । जो ध्यानकर्ता अत्यन्त भाग्यशाली होते हैं, वे योग विधि द्वारा भगवान् के विष्णु रूप को अपने हृदयों के भीतर देख सकते हैं । किन्तु उन्हें साक्षात् देखना दूसरी बात है । यह केवल शुद्ध भक्तों के लिए ही सम्भव है । अतएव कुमारों ने जब देखा कि भगवान् अपने संगियों सहित आ रहे हैं, जो छाता तथा चामर लिये हुए हैं, तो वे आश्चर्यचकित रह गये कि वे तो भगवान् का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं । *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि ईश्वर प्रेम में उच्चस्थ भक्तगण अपने हृदयों के भीतर सदैव भगवान् श्यामसुन्दर का दर्शन करते हैं । किन्तु जब वे परिपक्व हो जाते हैं, तो वही भगवान् साक्षात् उनके समक्ष दिखते हैं । सामान्यजनों को भगवान् दृश्य नहीं हैं, किन्तु जब कोई भगवान् के पवित्र नाम की महत्ता को समझ सकता है और कीर्तन तथा *प्रसाद-आस्वादन* द्वारा जीभ से आरम्भ करके भगवद्भक्ति में अपने को लगाता है, तो धीरे-धीरे भगवान् स्वयं उसमें प्रकट होते हैं । इस तरह भक्त निरन्तर भगवान् को अपने हृदय में देखता है और अधिक परिपक्व अवस्था में वह उन्हीं भगवान् का साक्षात् दर्शन उसी

तरह कर सकता है, जिस तरह हम अन्य वस्तुओं को देखते हैं।

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम

स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।

श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-

श्रूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कृत्स्न-प्रसाद—हर एक को आशीर्वाद देते हुए; सु-मुखम्—शुभ मुखमण्डल; स्पृहणीय—वांछनीय; धाम—आश्रय; स्नेह—स्नेह; अवलोक—देखते हुए; कलया—अंश द्वारा; हृदि—हृदय में; संस्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; श्यामे—साँवले रंग वाले भगवान् के प्रति; पृथौ—चौड़ी; उरसि—छाती पर; शोभितया—सुसज्जित होकर; श्रिया—लक्ष्मी द्वारा; स्वः—स्वर्गलोक; चूडामणिम्—चोटी; सुभगयन्तम्—सौभाग्य का विस्तार करते हुए; इव—सदृश; आत्म—भगवान्; धिष्ण्यम्—धाम।

भगवान् सारे आनन्द के आगार हैं। उनकी शुभ उपस्थिति हर एक के आशीष के लिए है और उनकी स्नेहमयी मुस्कान तथा चितवन हृदय के अन्तरतम को छू लेती है। भगवान् के सुन्दर शरीर का रंग श्यामल है और उनका चौा वक्षस्थल लक्ष्मीजी का विश्रामस्थल है, जो समस्त स्वर्गलोकों के शिखर रूपी सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत को महिमामंडित करने वाली हैं। इस तरह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भगवान् स्वयं ही आध्यात्मिक जगत के सौन्दर्य तथा सौभाग्य का विस्तार कर रहे हों।

तात्पर्य : जब भगवान् आये तो वे सबों से प्रसन्न हुए; इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि कृत्स्न-प्रसाद-सुमुखम्। भगवान् जानते थे कि दोषी द्वारपाल भी उनके शुद्ध भक्त थे यद्यपि संयोगवश उन्होंने अन्य भक्तों के चरणों पर अपराध किया था। भक्ति में किसी भक्त के प्रति अपराध करना अतीव घातक होता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि भक्त के प्रति किया गया अपराध उस मत्त हाथी की तरह है, जो इधर उधर दौड़ता है। जब कोई मत्त हाथी किसी बगीचे में घुसता है, तो वह सारे पौधों को कुचल डालता है। उसी तरह शुद्ध भक्त के चरणों पर किया गया अपराध भक्ति में उसके पद की हत्या कर देता है। जहाँ तक भगवान् की बात है वे तनिक भी अपमानित मुद्रा में न थे, क्योंकि वे अपने निष्ठावान भक्त द्वारा किये गये किसी अपराध को स्वीकार नहीं करते। किन्तु भक्त को अन्य भक्त के चरणों पर अपराध करने के प्रति अति सतर्क रहना चाहिए। सबों पर समभाव रखने तथा अपने भक्तों के प्रति विशेष रूप से उन्मुख होने वाले भगवान् ने अपराध करने वालों पर उतनी ही दयादृष्टि से देखा जितनी कि अपराध किये जाने वालों पर। भगवान् की यह प्रवृत्ति दिव्यगुणों के अपार आगार होने के

कारण है। भक्तों के प्रति उनकी प्रसन्न मुद्रा इतनी मोहक तथा हृदयस्पर्शी थी कि उनकी मुस्कान तक उनके लिए आकर्षक हो गई। वह आकर्षण न केवल इस भौतिक जगत के समस्त उच्च लोकों के लिए दिव्य था, अपितु उससे परे आध्यात्मिक जगत के लिए भी था। सामान्यतया लोगों को इसका अनुमान नहीं हो पाता कि उन उच्चतर लोकों में स्वाभाविक स्थिति क्या है, जो सारी साज-सामग्री की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न हैं फिर भी वैकुण्ठलोक इतना सुहावना है तथा इतना दैवी है कि इसकी उपमा मणियों के हार के मध्य मणि या लाकेट से दी जाती है।

इस श्लोक में *स्पृहणीय-धाम* शब्द सूचित करता है कि भगवान् समस्त आनन्द के आगार हैं, क्योंकि उनमें सारे दिव्य गुण पाये जाते हैं। यद्यपि जो लोग निर्विशेष ब्रह्म में तदाकार होने के आनन्द के लिए लालायित रहते हैं, वे इनमें से केवल कुछ ही गुणों की कामना करते हैं, किन्तु ऐसे भी कुछ इच्छुक हैं, जो भगवान् के दासों के रूप में उनका साक्षात् सान्निध्य चाहते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे हर एक को शरण देते हैं, चाहे वह निर्विशेषवादी हो या भक्त हो। वे निर्विशेषवादियों को अपने निर्विशेष ब्रह्म तेज के रूप में शरण देते हैं जबकि भक्तों को वे अपने निजी धाम वैकुण्ठलोकों में आश्रय प्रदान करते हैं। वे अपने भक्तों के प्रति विशेषरूप से उन्मुख रहते हैं। वे अपनी मुस्कान तथा उन पर अपनी चितवन से ही भक्तों के हृदय के अन्तस्तल को छू लेते हैं। वैकुण्ठलोक में भगवान् सदा ही सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियों द्वारा सेवित होते हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है। (*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*) इस भौतिक जगत में यदि किसी पर लक्ष्मीजी रंचभर भी कृपा करती हैं, तो वह महिमामंडित हो उठता है, अतः हम इसीसे अनुमान लगा सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत में भगवान् का साम्राज्य कितना महिमामंडित है जहाँ सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। इस श्लोक की अन्य विशेषता यह है कि इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि वैकुण्ठलोक कहाँ स्थित है। वे समस्त स्वर्गलोकों की चोटी पर स्थित हैं, जो कि ब्रह्माण्ड की ऊपरी सीमा सूर्यमंडल के ऊपर हैं और सत्यलोक या ब्रह्मलोक कहलाते हैं। आध्यात्मिक जगत ब्रह्माण्ड के परे स्थित है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक सारे लोकों का शीर्ष है।

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
 काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च ।
 वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
 विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पीत-अंशुके—पीले वस्त्र से ढका; पृथु-नितम्बिनि—अपने विशाल कूल्हों पर; विस्फुरन्त्या—चमचमाती; काञ्च्या—करधनी से; अलिभिः—भौरों द्वारा; विरुतया—गुंजार करती; वन-मालया—ताजे फूलों की माला से; च—तथा; वल्गु—सुन्दर; प्रकोष्ठ—कलाइयों; वलयम्—कंगन; विनता-सुत—विनता पुत्र गरुड़ के; अंसे—कन्धे पर; विन्यस्त—टिकाये; हस्तम्—एक हाथ; इतरेण—दूसरे हाथ से; धुनानम्—घुमाते हुए; अब्जम्—कमल का फूल ।

वे करधनी से अलंकृत थे, जो उनके विशाल कूल्हों को आवृत्त किये हुए पीत वस्त्र पर चमचमा रही थी। वे ताजे फूलों की माला पहने थे, जो गुंजरित भौरों से लक्षित थी। उनकी सुन्दर कलाइयों पर कंगन सुशोभित थे और वे अपना एक हाथ अपने वाहन गरुड़ के कन्धे पर रखे थे तथा दूसरे हाथ से कमल का फूल घुमा रहे थे।

तात्पर्य : यहाँ पर मुनियों द्वारा स्वयं अनुभव किया गया भगवान् का पूर्ण विवरण है, भगवान् का शरीर पीले वस्त्रों से आच्छादित था और उनकी कमर पतली थी। वैकुण्ठ में जब भी भगवान् के या उनके किसी पार्षद के वक्षस्थल पर फूल की माला पड़ी हुई होती है, तो यह वर्णन रहता है कि उस पर भौरें गुंजार कर रहे हैं। ये सारे स्वरूप अत्यन्त सुन्दर तथा भक्तों को आकृष्ट करने वाले थे। भगवान् का एक हाथ उनके वाहन गरुड़ पर था और दूसरे हाथ में वे एक कमल का फूल घुमा रहे थे। ये भगवान् नारायण के वैयक्तिक गुण हैं।

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
 गण्डस्थलोनसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
 दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्य-
 हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विद्युत्—बिजली; क्षिपत्—प्रकाश करते; मकर—मगर के आकार के; कुण्डल—कान के आभूषण; मण्डन—अलंकरण; अर्ह—जैसाकि उचित है; गण्ड-स्थल—गाल; उन्नस—उठी नाक; मुखम्—मुखमण्डल; मणि-मत्—मणियों से जटित; किरीटम्—मुकुट; दोः-दण्ड—चार बलिष्ठ भुजाएँ; षण्ड—समूह; विवरे—बीच में; हरता—मोहने वाला; पर-अर्ध्य—अत्यन्त मूल्यवान्; हारेण—हार के द्वारा; कन्धर-गतेन—गर्दन को अलंकृत करते हुए; च—तथा; कौस्तुभेन—कौस्तुभ मणि द्वारा ।

उनका मुखमण्डल गालों से सुस्पष्ट हो रहा था, जो उनके बिजली को मात करने वाले मकराकृत कुण्डलों की शोभा को बढ़ा रहे थे। उनकी नाक उन्नत थी और उनका सिर रत्नजटित

मुकुट से आवृत था। उनकी बलिष्ठ भुजाओं के मध्य एक मोहक हार लटक रहा था और उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से विभूषित थी।

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः

स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्टवाढ्यम् ।

मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं

नेमुर्निरीक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ, सौन्दर्य के मामले में; उपसृष्टम्—पराजित; इति—इस प्रकार; च—तथा; उत्स्मितम्—उसकी सुन्दरता का गर्व; इन्दिरायाः—लक्ष्मीजी का; स्वानाम्—अपने भक्तों का; धिया—बुद्धि द्वारा; विरचितम्—ध्यायित; बहु-सौष्टव-आढ्यम्—अत्यधिक सुंदर ढंग से अलंकृत किया गया; मह्यम्—मेरा; भवस्य—शिवजी का; भवताम्—तुम सबों का; च—तथा; भजन्तम्—पूजित; अङ्गम्—श्रीविग्रह, स्वरूप; नेमुः—नमस्कार किया; निरीक्ष्य—देखकर; न—नहीं; वितृप्त—तृप्त; दृशः—आँखें; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; कैः—उनके सिरों से।

नारायण का अनुपम सौन्दर्य उनके भक्तों की बुद्धि द्वारा कई गुना वर्धित होने से इतना आकर्षक था कि वह अतीव सुन्दरी लक्ष्मी देवी के गर्व को भी पराजित कर रहा था। हे देवताओ, इस तरह प्रकट हुए भगवान् मेरे द्वारा, शिव जी द्वारा तथा तुम सबों के द्वारा पूजनीय हैं। मुनियों ने उन्हें अतृप्त आँखों से आदर अर्पित किया और प्रसन्नतापूर्वक उनके चरणकमलों पर अपना अपना सिर झुकाया।

तात्पर्य : भगवान् का सौन्दर्य इतना विमोहक था कि इसका ठीक से वर्णन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मीजी भगवान् की आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों में सर्वाधिक सुन्दर झाँकी मानी जाती हैं। उन्हें अपने सर्वाधिक सुन्दर होने का अनुभव है फिर भी जब भगवान् वहाँ प्रकट हुए तो उनका सौन्दर्य परास्त हो गया। दूसरे शब्दों में, लक्ष्मीजी का सौन्दर्य भगवान् की उपस्थिति में गौण है। वैष्णव कवियों के शब्दों में यह कहा जाता है कि भगवान् का सौन्दर्य इतना मोहक है कि वह लाखों कामदेवों को परास्त कर देता है। इसीलिए वे मदनमोहन कहलाते हैं। यह भी वर्णन हुआ है कि कभी कभी भगवान् राधारानी के सौन्दर्य के पीछे पागल हो जाते हैं। कविगण वर्णन करते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में भगवान् कृष्ण मदनमोहन होते हुए भी मदन-दाह या राधारानी के सौन्दर्य से विमुग्ध हो जाते हैं। वस्तुतः भगवान् का सौन्दर्य अति उत्तम है और वह वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी के सौन्दर्य को भी मात करता है। वैकुण्ठलोकों में भगवान् के भक्तगण उन्हें सर्वाधिक सुन्दर रूप में देखना चाहते हैं, किन्तु गोकुल

या कृष्णलोक में भक्तगण राधारानी को कृष्ण से भी बढ़कर सुन्दर देखना चाहते हैं। इसका समंजन इस तरह होता है कि भक्तवत्सल होने के नाते भगवान् ऐसे स्वरूप धारण करते हैं जिससे ब्रह्मा, शिव जैसे भक्त तथा अन्य देवतागण प्रसन्न हो जाँए। यहाँ भी, भक्त मुनिकुमारों के लिए भगवान् अपने सर्वाधिक सुन्दर रूप में प्रकट हुए और वे बिना तृप्त हुए उन्हें देखते रहे तथा उन्हें अधिकाधिक देखते रहना चाह रहे थे

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-

किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां

सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अरविन्द-नयनस्य—कमलनेत्र भगवान् का; पद-अरविन्द—चरणकमलों का; किञ्जल्क—अँगूठों समेत; मिश्र—मिश्रित; तुलसी—तुलसी दल; मकरन्द—सुगन्धि; वायुः—मन्द पवन; अन्तः-गतः—भीतर प्रविष्ट हुए; स्व-विवरेण—अपने नथुनों से होकर; चकार—बना दिया; तेषाम्—कुमारों के; सङ्क्षोभम्—परिवर्तन के लिए क्षोभ; अक्षर-जुषाम्—निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रति अनुरक्त; अपि—यद्यपि; चित्त-तन्वोः—मन तथा शरीर दोनों में।

जब भगवान् के चरणकमलों के अँगूठों से तुलसीदल की सुगन्ध ले जाने वाली मन्द वायु उन मुनियों के नथुनों में प्रविष्ट हुई तो उन्हें शरीर तथा मन दोनों में परिवर्तन का अनुभव हुआ यद्यपि वे निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान के प्रति अनुरक्त थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि चारों कुमार निर्विशेषवादी अथवा एकेश्वरवाद दर्शन के समर्थक थे और भगवान् से तदाकार होने की सोच रहे थे। किन्तु ज्योंही उन्होंने भगवान् के स्वरूप को देखा, उनके मन परिवर्तित हो गये। दूसरे शब्दों में, जो निर्विशेषवादी भगवान् से तदाकार होने के प्रयास में दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, वह भगवान् के सुन्दर दिव्य स्वरूप को देखते ही परास्त हो जाता है। भगवान् के चरणकमलों की सुगन्ध ने, जो वायु द्वारा ले जाई गई थी और जो तुलसी की सुगन्धि से मिश्रित थी, उनके मनन को बदल डाला। उन्होंने परमेश्वर से एकाकार होने के बजाय भक्त बनना श्रेष्ठतर समझा। भगवान् के चरणकमलों का सेवक बनना भगवान् से तदाकार होने से श्रेष्ठतर है।

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-

मुद्रीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे मुनि; वै—निश्चय ही; अमुष्य—भगवान् का; वदन—मुख; असित—नीला; पद्म—कमल का; कोशम्—भीतरी भाग;
उद्रीक्ष्य—ऊपर देखकर; सुन्दर-तर—अधिक सुन्दर; अधर—होठ; कुन्द—चमेली का फूल; हासम्—हँसी; लब्ध—प्राप्त
किया; आशिषः—जीवन के लक्ष्य; पुनः—फिर; अवेक्ष्य—नीचे देखकर; तदीयम्—उसका; अङ्घ्रि-द्वन्द्वम्—चरणकमलों की
जोड़ी; नख—नाखून; अरुण—लाल; मणि—पन्ना; श्रयणम्—आश्रय; निदध्युः—ध्यान किया ।

उन्हें भगवान् का सुन्दर मुख नीले कमल के भीतरी भाग जैसा प्रतीत हुआ और भगवान् की
मुसकान खिले हुए चमेली के फूल सी प्रतीत हुई। मुनिगण भगवान् का मुख देखकर पूर्णतया
सन्तुष्ट थे और जब उन्होंने उनको अधिक देखना चाहा तो उन्होंने उनके चरणकमलों के नाखूनों
को देखा जो पन्ना जैसे थे। इस तरह वे भगवान् के शरीर को बारम्बार निहार रहे थे, अतः उन्होंने
अन्त में भगवान् के साकार रूप का ध्यान किया।

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
ध्यानास्पदं बहुमतं नयनाभिरामम् ।
पौंसं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—उन पुरुषों की; गतिम्—मुक्ति; मृगयताम्—ढूँढ रहे; इह—इस जगत में; योग-मार्गैः—अष्टांग योग विधि के द्वारा;
ध्यान-आस्पदम्—ध्यान का विषय; बहु—महान् योगियों द्वारा; मतम्—संस्तुत; नयन—नेत्र; अभिरामम्—सुहावने; पौंसम्—
मानव; वपुः—रूप; दर्शयानम्—प्रदर्शित करते हुए; अनन्य—अन्यों द्वारा नहीं; सिद्धैः—सिद्ध; औत्पत्तिकैः—शाश्वत उपस्थित;
समगृणन्—प्रशंसित; युतम्—भगवान्, जो समन्वित है; अष्ट-भोगैः—आठ प्रकार की सिद्धियों से।

यही भगवान् का वह रूप है, जिसका ध्यान योगविधि के अनुयायी करते हैं और ध्यान में
यह योगियों को मनोहर लगता है। यह काल्पनिक नहीं, अपितु वास्तविक है जैसा कि महान्
योगियों ने सिद्ध किया है। भगवान् आठ प्रकार की सिद्धियों से पूर्ण हैं, किन्तु अन्यो के लिए ये
पूर्णरूप में सम्भव नहीं हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर योगविधि की सफलता का अति सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। यह विशेष
उल्लेख है कि चतुर्भुजी नारायण के रूप में भगवान् का रूप योगमार्ग के अनुयायियों के लिए ध्यान का
लक्ष्य है। आधुनिक युग में ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं, जो चतुर्भुजी नारायण रूप को अपने ध्यान
का लक्ष्य नहीं बनाते। उनमें से कुछ तो किसी निर्विशेष या शून्य का ध्यान करने का प्रयास करते हैं,

किन्तु यह उन महान् योगियों द्वारा अनुमोदित नहीं है, जो आदर्श विधि का पालन करते हैं। असली योगमार्ग विधि तो इन्द्रियों को वश में करना, एकान्त तथा पवित्र स्थान में बैठना और नारायण के उस चतुर्भुजी रूप का ध्यान करना है, जो इस अध्याय में वर्णित विधि से अलंकृत रहता है और जिस रूप में वे चारों मुनियों के समक्ष प्रकट हुए थे। यह नारायण रूप कृष्ण का अंश है, अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन, जो अब विस्तार पा रहा है, योगाभ्यास की असली सर्वोच्च विधि है।

कृष्णभावनामृत तो प्रशिक्षित भक्तिमय योगियों द्वारा सर्वोच्च योग का निष्पादन है। योगाभ्यास के सारे आकर्षणों के बावजूद आठ प्रकार की योग सिद्धियाँ सामान्य व्यक्ति को नहीं प्राप्त हो पाती हैं। किन्तु यहाँ यह वर्णन किया गया है कि चारों मुनियों के समक्ष प्रकट होने वाले भगवान् स्वयं सभी आठ सिद्धियों से पूर्ण हैं। सर्वोच्च योग मार्ग विधि चौबीसों घण्टे कृष्ण पर मन को केन्द्रित करना है। यह कृष्णभावनामृत कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* में वर्णित योग पद्धति या पतञ्जलि द्वारा संस्तुत योग पद्धति आजकल अभ्यास किये जाने वाले *हठयोग* से भिन्न है जैसाकि आजकल पाश्चात्य देशों में समझा जाता है। असली योगाभ्यास तो इन्द्रियों को वश में करना है और ऐसा वशीकरण हो जाने के पश्चात् मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के नारायण रूप में एकाग्र करना है। भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं और अन्य सारे विष्णु रूप, जिनमें उन्हें शंख, चक्र, गदा तथा पद्म से सजे हुए उनका वर्णन किया गया है कृष्ण के स्वांश हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की संस्तुति की गई है। मन की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को सिर तथा पीठ को सीधी रेखा में रखते हुए बैठना होता है और पवित्र वातावरण द्वारा शुद्ध किये हुए एकान्त स्थान में अभ्यास करना होता है। योगी को ब्रह्मचर्य के विधि-विधानों का पालन करना होता है, अर्थात् आत्मसंयम तथा कौमार्यपूर्ण जीवन बिताने का दृढ़ प्रयास करना होता है। किसी घनी आबादी वाले शहर में, अपव्ययी जीवन बिताते हुए, और अनियंत्रित यौन तथा जीभ के व्यभिचार में लगे रहकर, कोई योगाभ्यास नहीं कर सकता। योगाभ्यास के लिए इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है और इन्द्रिय नियंत्रण का शुभारम्भ जीभ को नियंत्रित करने से होता है। जो व्यक्ति जीभ पर नियंत्रण रख सकता है, वह अन्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण कर सकता है। मनुष्य अपनी जीभ को सभी प्रकार के वर्जित भोज्य तथा पेय पदार्थों को ग्रहण करने की अनुमति देकर उसी के साथ योगाभ्यास में प्रगति नहीं कर सकता।

यह अत्यन्त शोचनीय बात है कि अनेक अवैध तथाकथित योगी पाश्चात्य देशों में आते हैं और लोगों की योगाभ्यास के प्रति उन्मुखता का अवांछनीय लाभ उठाते हैं। ऐसे अवैध योगी सार्वजनिक रूप से यह घोषित करने का दुस्साहस तक करते हैं कि मनुष्य सुरा-पान की आदत में लिप्त रहते हुए भी ध्यान का अभ्यास कर सकता है।

पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिए योगाभ्यास की संस्तुति की थी, किन्तु अर्जुन ने स्पष्ट रूप से योग पद्धति के कठोर यम-नियमों का पालन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। मनुष्य को कर्म के हर क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक होना चाहिए और उसे योग के नाम पर व्यर्थ के योगासनों का अभ्यास करने में अपना बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए। असली योग तो अपने हृदय के भीतर चतुर्भुजी परमात्मा को खोजना तथा ध्यान में उनका निरन्तर दर्शन करना है। ऐसा निरन्तर ध्यान *समाधि* कहलाता है और इस ध्यान का लक्ष्य तो अलंकृत शरीर वाला चतुर्भुजी नारायण होता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के इस अध्याय में वर्णन हुआ है। किन्तु यदि कोई शून्य या निर्विशेष वस्तु का ध्यान करना चाहता है, तो योगाभ्यास में सफलता प्राप्त करने में काफी समय लगता है। हम अपने मन को किसी शून्य या निर्विशेषवादी वस्तु पर एकाग्र नहीं कर सकते। असली योग तो भगवान् के चतुर्भुजी नारायण रूप पर मन को स्थिर करना है, जो हर व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं।

ध्यान के द्वारा मनुष्य यह समझ सकता है कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं। यदि कोई इसे न भी जानता हो तो भी ईश्वर हर एक के हृदय में स्थित रहते हैं। वे न केवल मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं, अपितु वे कुत्ते-बिल्लियों के हृदयों के भीतर भी स्थित हैं। *भगवद्गीता* इस तथ्य को भगवान् की इस घोषणा द्वारा प्रमाणित करती है— *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे*। जगत के परम नियन्ता ईश्वर हर एक के हृदय में आसीन हैं। वे न केवल हर एक के हृदय में रहते हैं, अपितु वे परमाणु तक के भीतर उपस्थित हैं। ईश्वर की उपस्थिति से कोई भी स्थान शून्य या रहित नहीं है। यह *ईशोपनिषद्* का कथन है। ईश्वर सर्वत्र उपस्थित हैं और उनके स्वामित्व का अधिकार हर वस्तु पर लागू होता है। भगवान् जिस स्वरूप में सर्वत्र उपस्थित रहते हैं वह परमात्मा कहलाता है। आत्मा का अर्थ है व्यष्टि आत्मा और परमात्मा का अर्थ है व्यष्टि परमात्मा। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही व्यष्टि पुरुष हैं। आत्मा तथा परमात्मा में यही अन्तर है कि आत्मा किसी विशेष शरीर में ही उपस्थित रहता है, जबकि

परमात्मा सर्वत्र उपस्थित रहता है। इस सन्दर्भ में सूर्य का दृष्टान्त अति उत्तम है। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान पर स्थित रहता है, किन्तु सूर्य इसी प्रकार की व्यक्ति सत्ता होते हुए भी हर व्यक्ति के सिर के ऊपर उपस्थित रहता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है। इसलिए यद्यपि सारे जीवों के, जिनमें भगवान् भी सम्मिलित हैं, गुण समान हैं, तो भी परमात्मा अपने विस्तार करने की मात्रा-युक्त शक्ति के कारण व्यक्ति आत्मा से भिन्न हैं। भगवान् या परमात्मा अपना विस्तार लाखों रूपों में कर सकते हैं, किन्तु व्यक्ति आत्मा ऐसा नहीं कर सकता।

हर एक के हृदय में स्थित होने से परमात्मा हर एक के कार्यों का अवलोकन कर सकता है—चाहे वह भूत, वर्तमान अथवा भविष्य हो। उपनिषदों में परमात्मा को व्यक्ति आत्मा के साथ मित्र तथा साक्षी रूप में आसीन बतलाया गया है। मित्र रूप में भगवान् अपने मित्र व्यक्ति आत्मा को पा लेने तथा उसे भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए उत्सुक रहते हैं। साक्षी के रूप में वे सारे वरों के प्रदाता हैं और वे प्रत्येक व्यक्ति आत्मा को उसके कर्मों का फल देते हैं। परमात्मा हर व्यक्ति आत्मा को वे सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिन्हें इस भौतिक जगत में वह भोगना चाहता है। दुख तो भौतिक जगत पर प्रभुत्व जताने की जीव की लालसा का प्रतिफल होता है। किन्तु भगवान् अपने मित्र व्यक्ति आत्मा को, जो कि उसका पुत्र भी है, अन्य सारे कार्यों को त्याग कर नित्य आनन्दमय तथा ज्ञानमय जीवन के लिए उनकी शरण में जाने का आदेश देते हैं। सभी प्रकार के योग पर अत्यन्त प्रामाणिक तथा सर्वाधिक पढ़ी जानेवाली पुस्तक *भगवद्गीता* की यह अन्तिम शिक्षा है। इस तरह *भगवद्गीता* का अन्तिम शब्द योग की सिद्धि में अन्तिम शब्द है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहता है, वह सर्वोच्च योगी है। कृष्णभावनामृत क्या है? जिस तरह व्यक्ति आत्मा अपनी चेतना के द्वारा उसके सारे शरीर में उपस्थित रहता है उसी तरह अतिचेतना द्वारा परमात्मा सारी सृष्टि में उपस्थित रहते हैं। यह अतिचेतना शक्ति व्यक्ति आत्मा द्वारा जिस की चेतना सीमित है, नकल की जाती है। मैं यह तो समझ सकता हूँ कि मेरे सीमित शरीर में क्या हो रहा है, किन्तु मैं इसका अनुभव नहीं कर सकता कि दूसरे के शरीर में क्या हो रहा है। मैं अपनी चेतना के द्वारा अपने सारे शरीर में उपस्थित हूँ, लेकिन मेरी चेतना अन्य के शरीर में उपस्थित नहीं है। किन्तु परमात्मा सर्वत्र तथा सबों के भीतर उपस्थित होने से हर व्यक्ति के शरीर के

विषय में भी सचेत रहते हैं। यह सिद्धान्त कि आत्मा तथा परमात्मा एक हैं स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इसकी पुष्टि प्रामाणिक वैदिक वाङ्मय से नहीं होती। व्यष्टि आत्मा की चेतना अतिचेतना में कार्य नहीं कर सकती। किन्तु यह अतिचेतना ब्रह्म की चेतना के साथ व्यष्टि चेतना को जोड़कर प्राप्त की जा सकती है। यह जुड़ने की प्रक्रिया, शरणागति या कृष्णभावनामृत कहलाती है। *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से यह स्पष्ट है कि अर्जुन प्रारम्भ में अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु *भगवद्गीता* समझ लेने पर उसने अपनी चेतना को कृष्ण की अतिचेतना से संयुक्त कर दिया। तब वह कृष्णभावनामृत में था।

पूर्ण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण के आदेश से कर्म करता है। कृष्णभावनामृत की शुरुआत में गुरु के पारदर्शी माध्यम से आदेश प्राप्त किया जाता है। जब कोई व्यक्ति पर्याप्त प्रशिक्षित हो लेता है और कृष्ण के प्रति विनीत श्रद्धा तथा प्रेम से प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में कार्य करता है, तो संयुक्त होने की विधि अधिक दृढ़ तथा सही बन जाती है। कृष्णभावनामृत में भक्ति की यह अवस्था योग प्रणाली की सबसे पूर्ण अवस्था है। इस अवस्था में कृष्ण या परमात्मा भीतर से आदेश देते हैं जबकि बाहर से भक्त की सहायता गुरु द्वारा की जाती है, जो कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। भीतर से परमात्मा चैत्य के रूप में भक्त की सहायता करते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। किन्तु केवल इतना समझना कि ईश्वर सबके हृदय में आसीन हैं पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को भीतर तथा बाहर दोनों तरह से ईश्वर से परिचित होना होता है और कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए उसे भीतर तथा बाहर से आदेश प्राप्त करना चाहिए। यही मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था तथा समस्त योग की सर्वोच्च सिद्धि है।

पूर्ण योगी के लिए आठ प्रकार की चरम सिद्धियाँ हैं—वायु से भी हल्का, परमाणु से भी छोटा, पर्वत से भी बड़ा, जो भी इच्छा करे उसे पा सकना, ईश्वर की तरह नियंत्रण करना इत्यादि—किन्तु जब वह भगवान् से आदेश पाने की सिद्धावस्था तक पहुँच जाता है, तो वह उपर्युक्त भौतिक उपलब्धियों की किसी भी अवस्था से बढ़कर होता है। योग प्रणाली का प्राणायाम, जिसका सामान्य तौर पर अभ्यास किया जाता है, मात्र शुरुआत है। परमात्मा का ध्यान अगला कदम है। किन्तु परमात्मा से सीधा सम्पर्क प्राप्त करना और उनसे आदेश लेना सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था है। ध्यान की प्राणायाम विधि पाँच

हजार वर्ष पूर्व भी अति कठिन थी अन्यथा अर्जुन ने इस प्रणाली को अपनाने के कृष्ण के प्रस्ताव को अस्वीकार न किया होता। यह कलियुग पतित युग कहलाता है। इस युग में लोग सामान्यतया अल्पायु तथा आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिक जीवन को समझने में अत्यन्त मन्द होते हैं, वे प्रायः अभागे होते हैं, अतः यदि कोई आत्म-साक्षात्कार में तनिक भी रुचि रखता है, तो वह कई षड्यंत्रों द्वारा गुमराह किया जा सकता है। योग की पूर्ण अवस्था प्राप्त करने का एकमात्र साधन *भगवद्गीता* के सिद्धान्तों का पालन करना है, जिसका अभ्यास श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया। यह योगाभ्यास की सरलतम तथा सर्वोच्च सिद्धि है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस कृष्णभावनामृत योग प्रणाली का प्रदर्शन व्यावहारिक रूप में कृष्ण के पवित्र नाम का केवल कीर्तन करके किया जैसी कि *वेदान्त*, *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* तथा कई महत्त्वपूर्ण पुराणों में संस्तुति की गई है।

भारतीय सबसे अधिक संख्या में इसी योग विधि का पालन करते हैं और यह धीरे धीरे संयुक्त राज्य के अनेक शहरों में फैल रही है। यह इस युग के लिए अतीव सरल तथा व्यावहारिक है, विशेष रूप से उनके लिए जो योग में सफलता के प्रति गम्भीर हैं। इस युग में कोई अन्य विधि सफल नहीं हो सकती। ध्यान की विधि स्वर्णयुग या सत्ययुग में सम्भव थी, क्योंकि उस युग के लोग लाखों वर्षों तक जीवित रहते थे। जो व्यक्ति व्यावहारिक योगाभ्यास में सफलता चाहता है उसे सलाह दी जाती है कि वह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे; हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करे और तब उसे स्वयं अनुभव होने लगेगा कि वह प्रगति कर रहा है। *भगवद्गीता* में कृष्णभावनामृत का यह अभ्यास राजविद्या कहलाता है।

जिन्होंने *भक्तियोग* की इस सर्वाधिक उदात्त विधि को अपनाया है और जो कृष्ण के दिव्य प्रेम में भक्ति का अभ्यास करते हैं, वे इसकी सुखमय तथा सरल सम्पन्नता को प्रमाणित कर सकते हैं। सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार नामक चारों मुनि भी भगवान् के स्वरूप एवं उनके चरणकमलों की धूल की दिव्य सुगन्ध के प्रति आकृष्ट हो गये, जैसाकि श्लोक ४३ में बतलाया जा चुका है।

योग के लिए इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है तथा *भक्तियोग* या कृष्णभावनामृत इन्द्रियों को शुद्ध करने की विधि है। जब इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तो वे स्वतः नियंत्रित हो जाती हैं। कृत्रिम साधनों से इन्द्रियों के कार्यों को नहीं रोका जा सकता, किन्तु यदि कोई इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर

शुद्ध कर ले तो इन्द्रियाँ न केवल रद्दी कार्य से नियंत्रित की जा सकती है, अपितु उन्हें भगवान् की दिव्य सेवा में लगाया जा सकता है, जैसाकि चारों मुनियों—सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार ने कामना की थी। इसलिए कृष्णभावनामृत चिन्तनशील मन द्वारा बनाई गई धारणा नहीं है। इस विधि का आदेश भगवद्गीता (९.३४) में हुआ है—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं

सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।

यद्द्वैव कर्णविवरेण गुहां गतो नः

पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्धवेन ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

कुमाराः ऊचुः—कुमारों ने कहा; यः—जो; अन्तर्हितः—अव्यक्त; हृदि—हृदय में; गतः—आसीन है; अपि—यद्यपि; दुरात्मनाम्—धूर्तों को; त्वम्—तुम; सः—वह; अद्य—आज; एव—निश्चय ही; नः—हमारा; नयन-मूलम्—आमने-सामने; अनन्त—हे अनन्त; राद्धः—प्राप्त किया; यद्द्वैव—जब; एव—निश्चय ही; कर्ण-विवरेण—कानों से होकर; गुहाम्—बुद्धि; गतः—प्राप्त किया है; नः—हमको; पित्रा—पिता के द्वारा; अनुवर्णित—वर्णन किये गये; रहाः—रहस्य; भवत्-उद्धवेन—आपके प्राकट्य से।

कुमारों ने कहा : हे प्रिय प्रभु, आप धूर्तों के समक्ष प्रकट नहीं होते यद्यपि आप हर एक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम आपको अपने समक्ष देख रहे हैं यद्यपि आप अनन्त हैं। हमने आपके विषय में अपने पिता ब्रह्मा के द्वारा अपने कानों से जो कथन सुने हैं, वे अब आपके कृपापूर्ण प्राकट्य से वस्तुतः साकार हो गए हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर उन तथाकथित योगियों का वर्णन हुआ है, जो अपने मन को निर्विशेष या शून्य पर केन्द्रित करते हैं या उसका ध्यान करते हैं। श्रीमद्भागवत का यह श्लोक उन व्यक्तियों का वर्णन करता है जिनसे आशा की जाती है कि वे ध्यान में संलग्न अति कुशल योगी होंगे, किन्तु जो भगवान् को अपने हृदय के भीतर आसीन नहीं पाते। ऐसे व्यक्तियों को यहाँ पर दुरात्मा कहा गया है, जिसका अर्थ है “अत्यन्त कुटिल हृदय वाला” या “कम बुद्धिमान व्यक्ति” जो महात्मा का विलोम है, जिसका अर्थ है “विशाल हृदयवाला।” ऐसे तथाकथित योगी जो ध्यान में लगे रहते हुए भी विशाल-हृदय नहीं हैं, वे चतुर्भुजी नारायण रूप को नहीं देख सकते, भले ही भगवान् उनके हृदय में वास कर रहे होते हैं। यद्यपि परब्रह्म की प्रथम अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म है, किन्तु परमेश्वर के निर्विशेष तेज का अनुभव करने से मनुष्य को तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ईशोपनिषद् में भी भक्त प्रार्थना करता है कि उसकी आँखों से

ब्रह्म का चमकीला तेज हटा लिया जाय जिससे वह भगवान् के असली साकार रूप का दर्शन कर सके और इस तरह पूर्णतया सन्तुष्ट हो सके। इसी तरह, यद्यपि भगवान् प्रारम्भ में अपने चमकीले शारीरिक तेज के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु यदि भक्त निष्ठापूर्वक उनका दर्शन करना चाहता है, तो भगवान् उसके समक्ष प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् हमारी अपूर्ण आँखों से नहीं देखे जा सकते, न ही वे हमारे अपूर्ण कानों से सुने जा सकते हैं और न ही अपूर्ण इन्द्रियों से अनुभव किये जा सकते हैं। किन्तु यदि कोई श्रद्धा तथा लगन से भक्ति करता है, तो ईश्वर स्वयं प्रकट होते हैं।

यहाँ पर चार मुनियों—सनत्कुमार, सनातन, सनन्दन तथा सनक—को निष्ठावान भक्तों के रूप में वर्णित किया गया है। यद्यपि उन्होंने अपने पिता ब्रह्मा से भगवान् के साकार रूप के विषय में सुन रखा था, किन्तु उन्हें केवल निर्विशेष रूप ब्रह्म ही बतलाया गया था। किन्तु वे भगवान् की निष्ठापूर्वक खोज कर रहे थे, अतएव उन्होंने अन्ततः उनके साकार रूप का दर्शन किया जो उनके पिता द्वारा बताये गये वर्णन के अनुरूप था। इस तरह वे पूर्णतया तुष्ट हो गये। यहाँ वे अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि यद्यपि प्रारम्भ में वे मूर्ख निर्विशेषवादी थे, किन्तु अब भगवत्कृपा से उन्हें उनके साकार रूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये मुनि अपने पिता ब्रह्मा से सुनने का अपना अनुभव बता रहे थे, जिनका जन्म सीधे भगवान् से हुआ था। दूसरे शब्दों में, भगवान् से लेकर ब्रह्मा और ब्रह्मा से नारद तथा नारद से व्यास इत्यादि की परम्परा को यहाँ स्वीकार किया गया है। चूँकि कुमारगण ब्रह्मा के पुत्र थे, अतएव उन्हें ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ था इसलिए निर्विशेषवादी शुभारम्भ के बावजूद अन्त में वे भगवान् के साकार रूप के साक्षात् दर्शक बने।

तं त्वां विदाम भगवन्परमात्मतत्त्वं
 सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
 यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
 रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वाम्—तुमको; विदाम—हम जानते हैं; भगवान्—हे भगवान्; परम्—परम; आत्म-तत्त्वम्—परब्रह्म; सत्त्वेन—आपके सतोगुणी रूप के द्वारा; सम्प्रति—अब; रतिम्—ईश प्रेम; रचयन्तम्—उत्पन्न करते हुए; एषाम्—उन सबों का; यत्—जो; ते—तुम्हारी; अनुताप—कृपा; विदितैः—समझ गया; दृढ—अविचल; भक्ति-योगैः—भक्ति द्वारा; उद्ग्रन्थयः—अनुरक्ति से रहित, भौतिक बन्धन से मुक्त; हृदि—हृदय में; विदुः—समझ गये; मुनयः—मुनिगण; विरागाः—भौतिक जीवन में रुचि न रखने वाले।

हम जानते हैं कि आप परम सत्य अर्थात् परमेश्वर हैं, जो अपने दिव्य रूप को अकलुषित (विशुद्ध) सतोगुण में प्रकट करते हैं। आपका यह दिव्य शाश्वत रूप आपकी कृपा से ही अविचल भक्ति के द्वारा उन मुनियों द्वारा समझा जाता है जिनके हृदय भक्तिमयी विधि से शुद्ध किये जा चुके हैं।

तात्पर्य : परम सत्य को तीन रूपों में—निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूपों में—समझा जा सकता है। यहाँ इसे स्वीकार किया गया है कि परम सत्य को समझने में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अन्तिम शब्द है। यद्यपि चारों कुमारों को उनके महान् विद्वान पिता ब्रह्मा ने शिक्षा दी थी, तथापि वे परब्रह्म को यथार्थ रूप में समझ नहीं पाये थे। वे परब्रह्म को तभी समझ पाये जब उन्होंने अपनी आँखों से भगवान् को साक्षात् देखा। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को देखता या समझ लेता है, तो परब्रह्म के अन्य दो रूप—निर्विशेष ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा रूप—भी स्वतः समझ में आ जाते हैं। इसीलिए कुमारगण पुष्टि करते हैं “आप परम सत्य हैं।” निर्विशेषवादी यह तर्क कर सकता है कि चूँकि भगवान् इतने सुन्दर ढंग से सुसज्जित थे, अतएव वे परब्रह्म नहीं थे। किन्तु यहाँ पर इस बात की पुष्टि की गई है कि परम पद की समस्त विविधता (विचित्रता) शुद्धसत्त्व से निर्मित है। भौतिक जगत में कोई भी गुण—सतो, रजो या तमो—कलुषित रहता है। यहाँ तक कि भौतिक जगत में सतोगुण भी रजो तथा तमो गुणों के स्पर्श से मुक्त नहीं है। लेकिन दिव्य जगत में एकमात्र सतोगुण विद्यमान रहता है, जिसमें रजो या तमोगुण का लेश भी नहीं रहता। इसलिए भगवान् का स्वरूप तथा उनकी विविध लीलाएँ एवं साज-सामग्री सारे के सारे शुद्ध सत्त्वगुण हैं। सतोगुण में ऐसी विविधता भगवान् द्वारा भक्त की तुष्टि हेतु सतत् प्रकट की जाती है। भक्त परम सत्य को शून्यता या निर्विशेषता में नहीं देखना चाहता। एक अर्थ में, परम दिव्य विविधता केवल भक्तों के निमित्त होती है, अन्यो के लिए नहीं, क्योंकि दिव्य विविधता का यह स्पष्ट रूप एकमात्र भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है, मानसिक चिन्तन या आरोही विधि से नहीं। कहा जाता है कि जब मनुष्य को भगवान् की किञ्चित्मात्र

भी कृपा प्राप्त होती है, तो वह भगवान् को समझ सकता है; अन्यथा उनकी कृपा के बिना मनुष्य हजारों वर्षों तक चिन्तन करते रहने पर भी यह नहीं समझ सकेगा कि वस्तुतः परब्रह्म क्या है। यह कृपा भक्त द्वारा तब अनुभव की जाती है जब वह कल्मष से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जब सारा कल्मष उन्मूलित हो जाता है और भक्त भौतिक आकर्षणों से पूर्णतया विरक्त हो जाता है तभी वह भगवान् की इस कृपा को प्राप्त कर सकता है।

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्बन्धदर्पितभयं भुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्यन्तिकम्—मुक्ति; विगणयन्ति—परवाह करते हैं; अपि—भी; ते—वे; प्रसादम्—वर; किम् उ—क्या कहा जाय; अन्यत्—अन्य भौतिक सुख; अर्पित—दिया गया; भयम्—भय; भुवः—भौहों का; उन्नयैः—उठाने से; ते—तुम्हारे; ये—वे भक्त; अङ्ग—हे भगवान्; त्वत्—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमल; शरणाः—शरण लिये हुए; भवतः—आपकी; कथायाः—कथाएँ; कीर्तन्य—कीर्तन के योग्य; तीर्थ—शुद्ध; यशसः—यश; कुशलाः—अत्यन्त पटु; रस-ज्ञाः—रस के ज्ञाता।

वे व्यक्ति जो वस्तुओं को यथारूप में समझने में अत्यन्त पटु और सर्वाधिक बुद्धिमान हैं अपने को भगवान् के शुभ कार्यों तथा उनकी लीलाओं की कथाओं को सुनने में लगाते हैं, जो कीर्तन तथा श्रवण के योग्य होती हैं। ऐसे व्यक्ति सर्वोच्च भौतिक वर की, अर्थात् मुक्ति की भी परवाह नहीं करते, स्वर्गलोक के भौतिक सुख जैसे कम महत्वपूर्ण वरों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों द्वारा जिस दिव्य आनन्द का भोग किया जाता है, वह अल्पज्ञों द्वारा भोगे गये भौतिक सुख से सर्वथा भिन्न है। भौतिक जगत में अल्पज्ञ लोग वरों के चार सिद्धान्तों में लगे रहते हैं, जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष कहलाते हैं। सामान्तया वे किसी भौतिक वर को प्राप्त करने के लिए धार्मिक जीवन अपनाते हैं जिसका उद्देश्य इन्द्रियों तो तुष्ट करना है। जब वे इस विधि से अधिकतम इन्द्रिय भोग की पूर्ति करने में हताश अथवा भ्रान्त हो जाते हैं, तो वे परम तत्त्व से तदाकार होना चाहते हैं, जो उनके विचार से मुक्ति है। मुक्ति पाँच प्रकार की है जिनमें सबसे कम महत्वपूर्ण सायुज्य या ब्रह्म से तदाकार होना है। भक्तगण ऐसी मुक्ति की परवाह नहीं करते, क्योंकि वे वास्तव में बुद्धिमान होते हैं। न ही वे अन्य चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी की भी कामना करते हैं—ये हैं भगवान् के ही

लोक में निवास करना (सालोक्य), संगी के रूप में भगवान् के साथ साथ रहना (सामीप्य), उनके जैसा ही ऐश्वर्य पाना (सार्ष्टि) तथा वैसा ही शारीरिक रूप प्राप्त करना। (सारूप्य) वे तो एकमात्र भगवान् की तथा उनके शुभ कार्यों की महिमा का गुणगान करना चाहते हैं। शुद्ध भक्ति तो *श्रवणं कीर्तनम्* है। भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में दिव्य आनन्द लेने वाले शुद्ध भक्त किसी प्रकार की मुक्ति की परवाह नहीं करते। यदि उन्हें पाँचों मुक्तियाँ भी प्रदान की जाँय वे उन्हें अस्वीकार कर देते हैं जैसाकि *भागवत* के तृतीय स्कन्ध में बतलाया गया है। भौतिकतावादी लोग स्वर्गलोक में स्वर्गिक सुख के इन्द्रिय-भोग की आकांक्षा करते हैं, किन्तु भक्तगण ऐसे भौतिक आनन्द का तुरन्त तिरस्कार कर देते हैं। भक्त इन्द्र के पद तक की परवाह नहीं करता। भक्त जानता है कि कोई भी आनन्दप्रद भौतिक पद कभी न कभी विनष्ट हो जायेगा। यदि वह इन्द्र, चन्द्र या किसी अन्य देवता के पद तक पहुँच भी जाता है, तो एक अवस्था ऐसी आयेगी जब वह विनष्ट हो जायेगा। भक्त कभी भी ऐसे क्षणिक आनन्द में रुचि नहीं दिखाता। वैदिक शास्त्रों से यह समझा जाता है कि कभी न कभी ब्रह्मा तथा इन्द्र तक नीचे गिरते हैं, किन्तु दिव्य भगवद्धाम से भक्त कभी नीचे नहीं गिरता। जीवन की इस दिव्य अवस्था की, जिसमें मनुष्य भगवान् की लीलाओं को सुनने में दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी संस्तुति की है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु रामानन्द राय से बातें कर रहे थे तो आध्यात्मिक साक्षात्कार के विषय में रामानन्द ने तरह तरह के सुझाव रखे थे, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस एक सुझाव के अतिरिक्त सबों को निरस्त कर दिया था कि मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् की महिमाओं का श्रवण करना चाहिए। वह सबों को स्वीकार्य है, विशेष रूप से इस युग में। मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों से भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने में अपने को लगाये। मानव जाति के लिए यह सर्वोच्च वरदान माना जाता है।

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-

च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।

वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः

पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कामम्—वांछित; भवः—जन्म; स्व-वृजिनैः—अपने ही पाप कर्मों से; निरयेषु—निम्न जन्मों में; नः—हमारा; स्तात्—ऐसा ही हो; चेतः—मन; अलि-वत्—भौर सृष्टि; यदि—यदि; नु—हो सकता है; ते—तुम्हारे; पदयोः—चरणकमलों पर; रमेत—लगे रहते हैं; वाचः—शब्द; च—तथा; नः—हमारे; तुलसि-वत्—तुलसी दल के समान; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमलों पर; शोभाः—सजाये गये; पूर्येत—पूरित हो जाते हैं; ते—तुम्हारे; गुण-गणैः—दिव्य गुणों के द्वारा; यदि—यदि; कर्ण-रन्ध्रः—कान के छेद।

हे प्रभु, हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि जब तक हमारे हृदय तथा मन आपके चरणकमलों की सेवा में लगे रहें, हमारे शब्द (आपके कार्यों के कथन से) सुन्दर बनते रहें जिस तरह आपके चरणकमलों पर चढ़ाये गये तुलसीदल सुन्दर लगने लगते हैं तथा जब तक हमारे कान आपके दिव्य गुणों के कीर्तन से सदैव पूरित होते रहें, तब तक आप जीवन की जिस किसी भी नारकीय स्थिति में हमें जन्म दे सकते हैं।

तात्पर्य : अब चारों मुनि भगवान् से अपनी दीनता दिखाते हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् के दो अन्य भक्तों को शाप देकर अपना अभिमान व्यक्त किया था। जय तथा विजय नामक दो द्वारपाल, जिन्होंने उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने से रोका था, निश्चित रूप से अपराधी थे, किन्तु वैष्णव होने के नाते इन चारों मुनियों को क्रोध में आकर उन दोनों को शाप नहीं देना चाहिए था। इस घटना के बाद उन्हें चेत हुआ कि भगवद्भक्तों को शाप देकर उन्होंने बुरा किया है, अतः उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि नारकीय अवस्था में भी उनके मन भगवान् नारायण के चरणकमलों की सेवा करने से विचलित न हों। जो लोग भगवान् के भक्त होते हैं, वे जीवन की किसी भी दशा से भयभीत नहीं होते बशर्ते कि वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहें। भगवान् नारायण के भक्तों *नारायणपरों* के बारे में कहा जाता है *न कुतश्चन् बिभ्यति* (भाग. ६.१७.२८) : वे नारकीय स्थिति में प्रवेश करने से डरते नहीं। क्योंकि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, अतः उनके लिए स्वर्ग या नरक एकसमान होता है। भौतिक जीवन में स्वर्ग तथा नरक दोनों ही एकसमान होते हैं, क्योंकि वे भौतिक हैं। इनमें से किसी में भी भगवान् की सेवा में लगे रहने की कोई गुंजायश नहीं है। अतएव जो लोग भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, वे स्वर्ग तथा नरक में कोई अन्तर नहीं देखते। ऐसा तो केवल वे भौतिकतावादी देखते हैं, जो एक की अपेक्षा दूसरे को वरीयता देते हैं।

इन चारों भक्तों ने भगवान् से प्रार्थना की कि यद्यपि भक्तों को शाप देने के कारण हम नरक जा सकते हैं, किन्तु हम भगवान् की सेवा करना न भूलें। भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा तीन प्रकार से

की जाती है—मनसे, वाचन से तथा कर्म से। यहाँ मुनि-गण कहते हैं कि उनकी वाणी सदैव परमेश्वर के गुणगान में लगी रहे। कोई कितनी ही अलंकारमयी या नियंत्रित व्याकरण सम्मत भाषा क्यों न बोले, किन्तु यदि उसके शब्द भगवान् की सेवा में नहीं लगते तो उसमें न तो कोई स्वाद होता है और न वह किसी लाभ की होती है। यहाँ पर तुलसी दलों का दृष्टान्त दिया गया है। तुलसी दल ओषधीय या जीवाणुनाशक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी हैं। ये पवित्र माने जाते हैं और भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित किये जाते हैं। तुलसीदल में असंख्य सदगुण हैं, किन्तु यदि इन्हें भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित न किया जाता तो तुलसी का इतना महत्त्व न होता। इसी तरह कोई व्यक्ति अलंकार या व्याकरण की दृष्टि से कितने ही सुन्दर ढंग से क्यों न बोले और भौतिकतावादी श्रोता उसकी अत्यधिक प्रशंसा क्यों न करें, किन्तु यदि उसके शब्द भगवान् की सेवा में अर्पित नहीं होते तो वे व्यर्थ हैं। कान के छेद बहुत छोटे होते हैं और वे किसी नगण्य ध्वनि से पूरित हो सकते हैं, अतः वे भगवान् की महिमा जैसी महान् ध्वनि को कैसे ग्रहण कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि कान के छेद आकाश की तरह हैं। जिस तरह आकाश कभी भी पूरित नहीं होता, उसी तरह कान की विशेषता है कि कोई चाहे जितनी तरह की ध्वनियाँ उड़ेलता जाय फिर भी कान अधिकाधिक ध्वनियों को ग्रहण कर सकता है। यदि भक्त को निरन्तर भगवान् की महिमा सुनने का अवसर प्राप्त होता रहे तो वह नरक जाने से भयभीत नहीं होता। हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन का यही लाभ है। कोई किसी भी स्थिति में क्यों न हो, ईश्वर उसे हरे कृष्ण कीर्तन करने का अधिकार देता है। यदि जीवन की किसी भी स्थिति में मनुष्य कीर्तन करता रहे तो वह कभी भी दुखी नहीं होगा।

प्रादुश्चकर्थं यदिदं पुरुहूत रूपं

तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।

तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम

योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान्प्रतीतः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रादुश्चकर्थं—आपने प्रकट किया है; यत्—जो; इदम्—यह; पुरुहूत—हे अतीव पूज्य; रूपम्—नित्यरूप; तेन—उस रूप से; ईश—हे प्रभु; निर्वृतिम्—सन्तोष; अवापुः—प्राप्त किया; अलम्—इतना अधिक; दृशः—दृष्टि; नः—हमारी; तस्मै—उस; इदम्—यह; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार; इत्—केवल; विधेम—अर्पित करें; यः—जो; अनात्मनाम्—अल्पज्ञों को; दुरुदयः—देखे नहीं जा सकते; भगवान्—भगवान्; प्रतीतः—हमारे द्वारा देखे गए हैं।

अतः हे प्रभु, हम भगवान् के रूप में आपके नित्य स्वरूप को सादर नमस्कार करते हैं जिससे

आपने इतनी कृपा करके हमारे समक्ष प्रकट किया है। आपका परम नित्य स्वरूप अभागे अल्पज्ञ व्यक्तियों द्वारा नहीं देखा जा सकता, किन्तु हम इसे देखकर अपने मन में तथा दृष्टि में अत्यधिक तुष्ट हैं।

तात्पर्य : चारों मुनि अपने आध्यात्मिक जीवन के आदि में निर्विशेषवादी थे, किन्तु बाद में अपने पिता एवं गुरु ब्रह्मा की कृपा से वे भगवान् के नित्य आध्यात्मिक स्वरूप को समझ गए और अपने को पूर्ण तुष्ट अनुभव करने लगे। दूसरे शब्दों में, जो योगीजन निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा की आकांक्षा करते हैं, वे पूरी तरह तुष्ट नहीं होते और फिर भी अधिक के लिए लालायित रहते हैं। यदि वे अपने मन में तुष्ट हो भी जाएं तो भी आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी आँखें तुष्ट नहीं होतीं। किन्तु ज्योंही ऐसे व्यक्ति भगवान् की अनुभूति करते हैं, वे सभी प्रकार से तुष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे भक्त बन जाते हैं और भगवान् के रूप को निरन्तर देखते रहना चाहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि जिसने प्रेमरूपी अंजन को अपनी आँखों में लेप करके कृष्ण का दिव्य प्रेम विकसित कर लिया है, वह भगवान् के दिव्य रूप का निरन्तर दर्शन करता है। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *अनात्मनाम्* उनको इंगित करता है जिनका अपने मन तथा इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं होता, अतः जो चिन्तन करते हैं और भगवान् से तदाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे लोग भगवान् के नित्य रूप का दर्शन करने का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों के लिए भगवान् सदैव योगमाया के पर्दे में छिपे रहते हैं। *भगवद्गीता* कहती है कि जब भगवान् कृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे और सबों के द्वारा दृश्य थे तब भी निर्विशेषवादी एवं तथाकथित योगी उनका दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि वे भक्तिमयी दृष्टि से विहीन थे। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों का सिद्धान्त है कि परमेश्वर तभी कोई विशेष रूप धारण करते हैं जब वे माया के सम्पर्क में आते हैं, यद्यपि वास्तव में उनके कोई रूप नहीं होता। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों की यह धारणा उन्हें भगवान् के यथारूप दर्शन करने से रोकती है। इसीलिए भगवान् ऐसे अभक्तों की दृष्टि से सदैव ओझल रहते हैं। चारों मुनि भगवान् के प्रति इतनी कृतज्ञता अनुभव कर रहे थे कि उन्होंने उनको बारम्बार नमस्कार किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत “ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन” नामक

पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।